धर्मकीर्त्ति विरचित

न्याय-बिन्दु

गोविन्दचन्द्र पाण्डे

कृत

अनुवाद एवं व्याख्या



दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

धमकीर्ति विरचित

न्याय बिन्दु

का

गोविन्दचन्द्र पाण्डे

कृत

अनुवाद एवं व्याख्या

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

प्रकाशक :

दर्शन-प्रतिष्ठान, डी-१४, बापू नगर, जयपुर-४

प्रथम संस्करण १९७२

मूल्य : रु० ८.००

मुद्रक—अणिमा प्रिन्टर्स, पुलिस स्मारक, जयपुर

विषय-सूची

		पृष्ठ
१.	विषय प्रवेश	१-१०
२.	प्रत्यक्ष परिच्छेद	११-३४
३.	स्वार्थानुमान परिच्छेद	३६-६२
४.	परार्थानुमान परिच्छेद	६३-१०९

दो शब्द

१९६९-७० के सत्र में दर्शनशास्त्र की कुछ छात्राओं ने एम० ए० के उत्तरार्ध में बौद्ध-दर्शन को अपना विशेष अध्येतव्य पत्र चुना था। उन्हें पढ़ाते समय श्चेर्बात्स्की के अंग्रेज़ी-अनुवाद के रहते हुए भी इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि न्याय-बिन्दु को हिन्दी में प्रस्तुत किया जाय। इसी प्रसंग में इस अनुवाद का सूत्रपात हुआ था। इसमें मूल सूत्र धर्मोत्तर की टीका के सहित अनूदित हैं। कुछ स्थलों पर दुर्वेक मिश्र के प्रदीप का सारांश संगृहीत है। अनेक स्थलों पर अपनी ओर से टिप्पणी एवं व्याख्या संयोजित है। जायसवाल-शोध-संस्थान से प्रकाशित संस्करण का उपयोग किया गया है।

मित्रवर शल्यजी की प्रेरणा से अनुवाद प्रकाशित हो रहा है। उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना प्रत्यक्ष बात का अनुमान करना होगा।

गोविन्दचन्द्र पाण्डे

९-२-७२

प्रवेश

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

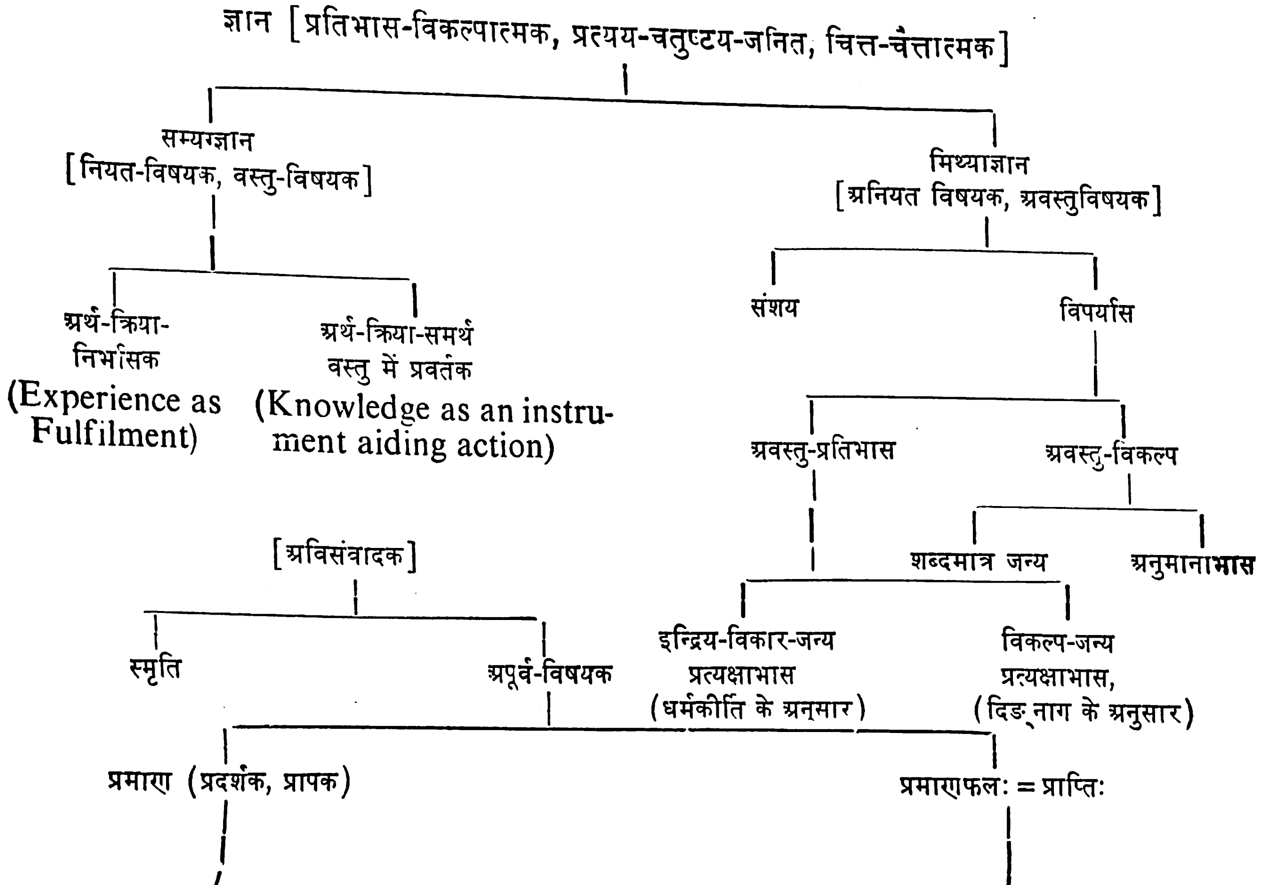
सम्यग्ज्ञान की दो स्थितियां हैं--प्रमाण और प्रमाण-फल। प्रमाण स्वयं ज्ञान-स्वरूप है[1]। विषय का ग्रहण साकृति विज्ञान के उदय से होता है[2]। यह गृहीत आकृति प्रतिभास अथवा सारूप्य कही जाती है। यह विज्ञान की विषय-प्रदर्शक स्थिति है। इसी के बल से विषय का निश्चय होता है। यह निश्चय ही विषय की प्रमाण-जन्य प्राप्ति है। यही प्रमाणफल है। विषय के प्रदर्शन में जो ध्यान का आकर्षण होता है और जो निश्चय तक पहुंचता है, वही प्रवर्तन है। निश्चय अथवा अध्यवसाय विज्ञान को विषय-ग्राहक विज्ञान और उसकी ग्राह्य आकृति को विषय के रूप में व्यवस्थित करता है। ग्राह्य विषय वस्तुभूत क्षण अथवा अवस्तु विकल्प हो सकता है। अध्यवसेय सन्तानः–विज्ञान प्रवाहः– रूप-विकल्पित विषय होता है। निश्चय अथवा अध्यवसाय शब्द-संयोग के कारण विकल्प होता है। ग्रहण का स्वरूप है 'नील-विज्ञान', अध्यवसाय का स्वरूप है 'नील का विज्ञान' = 'यह नील है' यह विज्ञान। विज्ञान का उन्मेष होता है नीलाकृति विज्ञान अथवा नील-प्रतिभास के रूप में। अर्थात् एक ऐसे ज्ञान के रूप में जिसमें विषयोल्लेखिता होते हुए भी, स्फुटता और सारूप्य के होते हुए भी, परिच्छिन्नता और व्यवस्था नहीं होती है। परिच्छिन्नता का अर्थ है विषयान्तर से व्यावृत्तिः–पृथक्करणः। व्यवस्था का अर्थ है विषय और विज्ञान की ग्राह्य-ग्राहक रूप में संबंध की व्यवस्था। परिच्छेद के लिए विकल्प और अध्यवसाय आवश्यक हैं, व्यवस्थापन के लिए प्रतिभास और स्वसंवेदन के आधार पर अध्यवसाय। प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी विकल्प

---

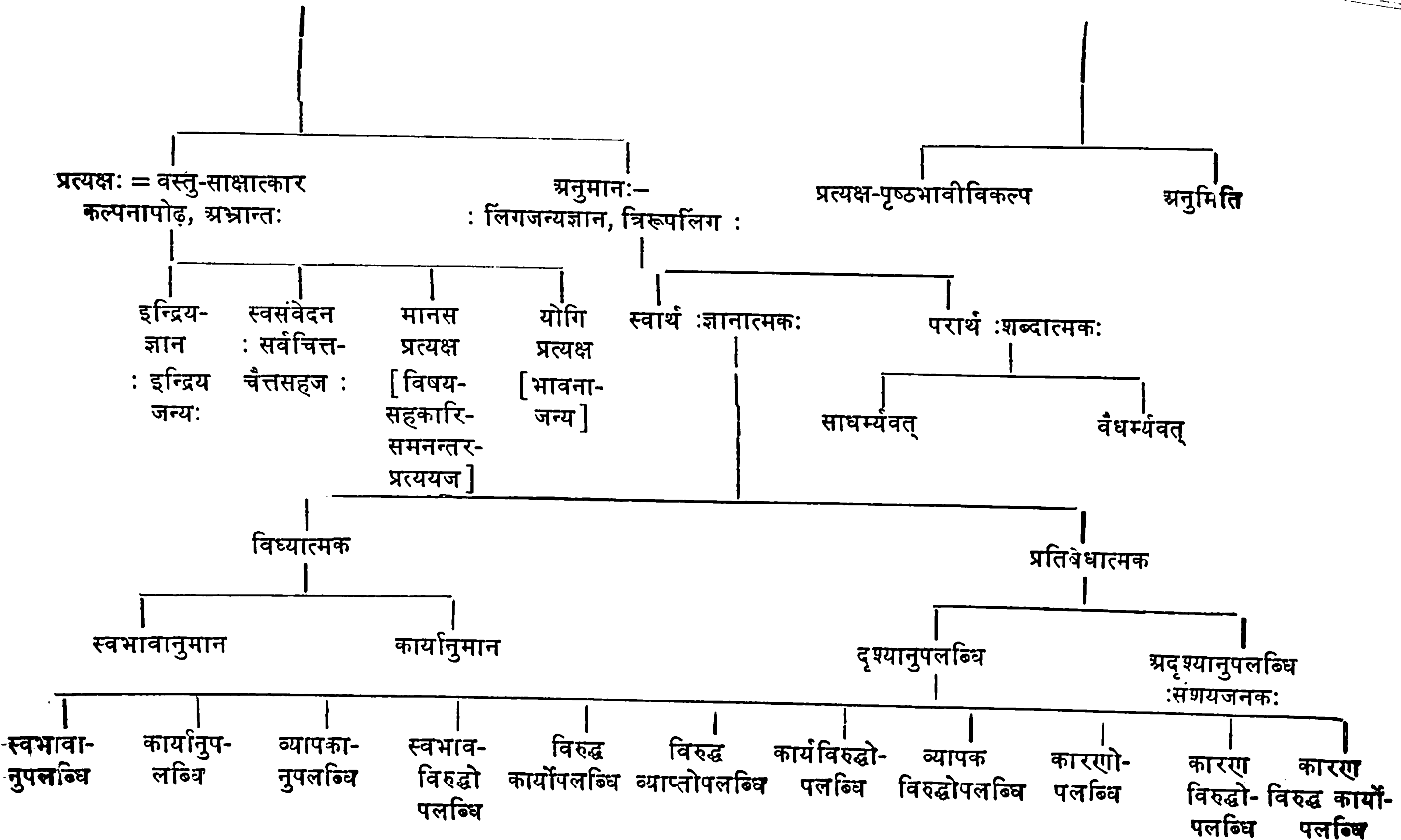
१. जैन भी प्रमाण को ज्ञान-स्वरूप मानते हैं। नैयायिक उसे ज्ञान का कारण अथवा प्रकृष्ट कारण कहते हैं।

२. साकार-ज्ञान-वाद विज्ञानवादियों और सौत्रान्तिकों का विशिष्ट सिद्धान्त है। नैयायिक और माध्यमिक ज्ञान को निराकार मानते हैं। नैयायिक वस्तु में आकार और ज्ञान में प्रकार मानते हैं।

ज्ञान–प्रभेद



ज्ञान [प्रतिभास-विकल्पात्मक, प्रत्यय-चतुष्टय-जनित, चित्त-चैत्तात्मक]
सम्यग्ज्ञान
[नियत-विषयक, वस्तु-विषयक]
अर्थ-क्रिया-निर्भासिक
(Experience as Fulfilment)
अर्थ-क्रिया-समर्थ वस्तु में प्रवर्तक
(Knowledge as an instrument aiding action)
मिथ्याज्ञान
[अनियत विषयक, अवस्तुविषयक]
संशय
विपर्यास
अवस्तु-प्रतिभास
अवस्तु-विकल्प
शब्दमात्र जन्य
अनुमानाभास
इन्द्रिय-विकार-जन्य प्रत्यक्षाभास (धर्मकीर्ति के अनुसार)
विकल्प-जन्य प्रत्यक्षाभास, (दिङ्नाग के अनुसार)
[अविसंवादक]
स्मृति
अपूर्व-विषयक
प्रमाण (प्रदर्शक, प्रापक)
प्रमाणफलः = प्राप्तिः


प्रत्यक्षः = वस्तु-साक्षात्कार
कल्पनापोढ़, अभ्रान्तः
अनुमानः–
: लिंगजन्यज्ञान, त्रिरूपलिंग :
प्रत्यक्ष-पृष्ठभावीविकल्प
अनुमिति
इन्द्रिय-
ज्ञान
: इन्द्रिय
जन्यः
स्वसंवेदन
: सर्वचित्त-
चैत्तसहज :
मानस
प्रत्यक्ष
[विषय-
सहकारि-
समनन्तर-
प्रत्ययज]
योगि
प्रत्यक्ष
[भावना-
जन्य]
स्वार्थ :ज्ञानात्मकः
परार्थ :शब्दात्मकः
साधर्म्यवत्
वैधर्म्यवत्
विध्यात्मक
प्रतिषेधात्मक
स्वभावानुमान
कार्यानुमान
दृश्यानुपलब्धि
अदृश्यानुपलब्धि
:संशयजनकः
स्वभावा-
नुपलब्धि
कार्यानुप-
लब्धि
व्यापका-
नुपलब्धि
स्वभाव-
विरुद्धो
पलब्धि
विरुद्ध
कार्योपलब्धि
विरुद्ध
व्याप्तोपलब्धि
कार्यविरुद्धो-
पलब्धि
व्यापक
विरुद्धोपलब्धि
कारणो-
पलब्धि
कारण
विरुद्धो-
पलब्धि
कारण
विरुद्ध कार्यो-
पलब्धि

में दोनों का समावेश होता है। इसीलिए इसमें विषय की अधिगति और प्रमाण का व्यवस्थापन होता है। अनुमिति की स्थिति समानान्तर है।

निश्चय और प्रतिभास का सामंजस्य अविसंवाद है। प्रदर्शन और प्राप्ति की यह अविसंवादकता हीं ग्राहक विज्ञान की प्रमाणता है।

प्रामाण्य-विचार

प्रामाण्य संशय और विपर्यास के अभाव से होता है। संशय का अभाव अभ्यास-सिद्ध प्रत्यक्ष में एवं अनुमान में स्वतः होता हैं। अन्यत्र, अनुमान से होता हैं। विपर्यास अर्थक्रिया के निर्भास से एवं अनुमान से ज्ञात होता है। वस्तुतः ऐसी स्थिति में अर्थ-क्रिया का निर्भास प्रत्यक्षान्तर ही होता हैं।

विषय का निश्चय प्रमाण से होता है। प्रामाण्य के निश्चय का प्रश्न युक्त संशय होने पर होता हैं। अनुमान निस्संशय होता है। प्रत्यक्ष अनभ्यास-दशा में युक्त संशय को जन्म देता हैं। युक्त संशय होने पर प्रामाण्य का निश्चय समर्थक प्रमाणान्तर से होता हैं। अप्रामाण्य का निश्चय प्रबलतर बाधक प्रमाणान्तर से होता हैं। अप्रामाण्य के अभाव का निश्चय ज्ञान में स्वतः नहीं होता। व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञान स्वतः अप्रमाण नहीं हैं, पारमार्थिक दृष्टि से हैं। परतः प्रामाण्य भी अप्रामाण्याभाव के निश्चय के लिए, एवं अनभ्यास-दशापन्न-प्रत्यक्ष के लिए ही हैं।

दो प्रमाण

ज्ञान में दो मौलिक तत्व देखे जाते हैं—अर्थ-साक्षात्कार और कल्पना। साक्षात्कार में ज्ञान उपस्थित विषय का ग्रहण मात्र करता है, अथवा यह कहना चाहिए कि एक विशिष्ट आकृति के साथ ज्ञान की स्फूर्ति अथवा प्रतिभास होता हैं। इसमें ज्ञान कुछ गढ़ता नहीं, केवल देखता हैं। दूसरी ओर, शब्द के सहारे एवं उसके द्वारा पिछली स्मृतियों और संस्कारों से प्रभावित होकर ज्ञान अनेक साक्षात्कारों की काट-छांट और जोड़-तोड़ के द्वारा कल्पनाएं प्रस्तुत करता हैं। इनमें नाम, जाति, द्रव्य, गुण और कर्म, ये पांच कल्पनाएं तो अनादि-वासना से सिद्ध मिलती हैं और इन्हें चित्त अपने स्थायी सांचों की तरह प्रयुक्त करता है। अनुभव की सारी सामग्री इनमें ढाली जाती है और इस प्रकार विकल्पात्मक ज्ञान सिद्ध होता है। विकल्प एक प्रकार से 'मन गढ़न्त' हैं, किन्तु 'दृष्ट' वस्तुओं पर अन्यव्यावृत्ति के द्वारा आरोपित होने के कारण उनमें व्यवहार-समर्थता परम्परया सिद्ध होती है। विकल्प नियत-विषयक और अनियत-विषयक दोनों होते हैं। नियत-विषयक विकल्प प्रमाण-कोटि में आरूढ़ होता है। यही अनुमान कहलाता है। इस प्रकार ज्ञान में प्रतीत द्वैत से

ही प्रमाणों का द्वैत सिद्ध होता है--साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष है और नियत-विकल्पात्मक अनुमान। सभी नियत-विषयक ज्ञान इन दो कोटियों में समा जाता है। ये दोनों प्रमाण तुल्य-बल हैं।

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष का व्युत्पत्ति-निमित्त है इन्द्रियाश्रित ज्ञान, प्रवृत्ति-निमित्त है वस्तु-साक्षात्कार। इस साक्षात्कारात्मक ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष की दो विशेषताएं हैं–वह कल्पनात्मक नहीं है और उसमें भ्रान्ति का अभाव है। इन्हीं से प्रत्यक्ष का लक्षण घटित है। विनीतदेव के अनुसार, प्रत्यक्ष का यह लक्षण योगाचार और सौत्रान्तिक दोनों ही मतों में घटाना चाहिए। सम्यग्ज्ञान होने से ही प्रत्यक्ष में द्विचन्द्रादि-ज्ञान निवृत्त होता है, अतः अभ्रान्तता से अविसंवादकता समझनी चाहिए। कल्पनापोढ़ कहने से अनुमान की निवृत्ति होती है। यह व्याख्या दिङ्नाग के आशय से मेल खाती है किन्तु इसमें धर्मकीर्ति के द्वारा विशेष-रूप से जोड़े गये 'अभ्रान्त' पद की ठीक सार्थकता नहीं होती। इसलिए धर्मोत्तर ने 'कल्पनापोढ़' का तात्पर्य लिया है अन्य-दर्शनों में अभिमत सवि-कल्पक प्रत्यक्ष का निराकरण। इससे प्रत्यक्ष पृष्ठ-भावी विकल्प भी प्रत्यक्ष-पद से हट जाता है। 'अभ्रान्त' पद का तात्पर्य है व्यवहार-योग्य संवादि-भ्रम की प्रत्यक्षता का खण्डन। नाव से वृक्ष चलते हुए दीखते हैं, किन्तु यह प्रत्यक्ष न होकर प्रत्यक्षाभास है। अनुमान में अवश्य इस प्रकार की अभ्रान्तता नहीं रहती जैसी प्रत्यक्ष में रहती है।

विज्ञानवाद में कल्पना उस ज्ञान को कहते हैं जिसकी प्रवृत्ति ग्राह्य-ग्राहक भेद को मान कर होती है। यह ग्राहक-ग्राह्य-कल्पना मूल कल्पना है। दिङ्नाग ने जात्यादि-योजना को कल्पना कहा है। धर्मकीर्ति ने ऐसे ज्ञान को कल्पना कहा है जिसमें ज्ञेय आकृति शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त की जा सके। कल्पना के लिए आवश्यक है एक ज्ञान में आरूढ़ शब्द और अर्थ का संयोग। प्रतिभास अथवा आकृति के रूप में विद्यमान अर्थ का अन्तर्जल्प के रूप में विद्यमान शब्द के साथ वाच्य और वाचक के रूप में एकीभाव होता है। वाच्य और वाचक की यह एकाकारता ज्ञान को एक विशिष्ट संरचना अथवा योजना प्रदान करती है जिसके कारण ज्ञान को कल्पना कहा जाता है। यह 'ज्ञान' मूलतः 'वस्तु' को वाच्यार्थ में परिवर्तित करने की प्रक्रिया से सम्पन्न होता है। परमार्थभूत वस्तु में अनादि अविद्या के द्वारा ग्राह्य-ग्राहक भेद का समारोप, क्षणात्मक ग्राह्य वस्तु में इन्द्रिय-संवेदन के द्वारा "स्थौल्य" अथवा 'देश' का आरोप, इन्द्रिय-गृहीत देश-वितत क्षणिक वस्तु के प्रतिभासों पर

सन्तानगत ऐक्य का आरोप, देश, काल और स्वभाव के आधार पर प्रत्यक्ष-प्राप्त वस्तुओं को नामांकित कर उन पर अन्यापोढ़ रूपों का अथवा वाच्यार्थों का आरोप; इस प्रकार क्रम से कल्पना का विकास होता है। धर्मकीर्ति ने यहां क्षण-प्रतिभासों की सन्तान के रूप में योजना को कल्पना का व्यापार माना है, जोकि सौत्रान्तिक मत के अनुकूल है, नकि विज्ञानवाद के।

जो विज्ञान वस्तुजन्य होता है उसका प्रतिभास नियत होता है, किन्तु जो विज्ञान वस्तु-निरपेक्ष होता है उसका प्रतिभास अनियत होता है। विकल्प-विज्ञान वस्तु-निरपेक्ष होने के कारण अनियत-प्रतिभास होता है। कल्पना अपने विषयों के निर्माण में निरंकुश है एवं भाव और अभाव को मिला-जुला कर पदार्थ गढ़ती है। शब्दों के धागों में पिरोई हुई इन कल्पनाओं में हमारा परिचित विश्व एक अवास्तविक किन्तु व्यवहारोपयोगी प्रतिबिम्ब के रूप में जन्म लेता है। वास्तविकता और अनुभूति के स्पर्श-बिन्दुओं को लेकर मानो यह कल्पना-वृत्त खींचा जाता है और प्रत्यक्ष-विज्ञान इस विकल्प-जगत् की मानों स्पर्श रेखाएं हैं।

प्रत्यक्ष के चार भेद हैं—इन्द्रिय-ज्ञान, मानस-प्रत्यक्ष, स्व-संवेदन और योगि-प्रत्यक्ष। इन्द्रिय-संवेदन सर्व-विदित है। मानस-प्रत्यक्ष उस पर आश्रित है, स्वतन्त्र नहीं है। इन्द्रिय-विज्ञान वस्तु-जनित है, मनोविज्ञान इन्द्रिय-विज्ञान-जनित। इन्द्रिय-विज्ञान अपने समकालिक वस्तु-क्षण की सहकारिता से स्वयं समनन्तर-प्रत्यय के रूप में जिस मनोविज्ञान को उत्पन्न करता है वह मानस-प्रत्यक्ष है। वस्तु का पहला क्षण इन्द्रिय-विज्ञान को आलम्बन बनाकर उत्पन्न करता है, दूसरा क्षण उस इन्द्रिय-विज्ञान का सहकारी बनता है। तीसरे क्षण में इन्द्रिय-विज्ञान समनन्तर-प्रत्यय बन कर मानस-प्रत्यक्ष को जन्म देता है। मानस-प्रत्यक्ष का आलम्बन इन्द्रिय-विज्ञान का सहकारी वस्तु का द्वितीय क्षण है।

प्रथम वस्तु-क्षण इन्द्रिय-विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय है, द्वितीय वस्तु-क्षण मनोविज्ञान का, किन्तु इस द्वितीय वस्तु-क्षण से प्रथम क्षण-जनित इन्द्रिय-विज्ञान की सहकारिता की अपेक्षा रहती है। अर्थात् मनोविज्ञान बाह्य वस्तु का इन्द्रिय-ज्ञान-निरपेक्ष स्वतन्त्र रूप से प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। इसलिए यह नहीं समझना चाहिए, जैसा, कुमारिल ने आक्षेप किया है, कि मानस-प्रत्यक्ष के द्वारा अन्धे, बहिरे ही न रह जाएंगे और क्योंकि मानस-प्रत्यक्ष का विषय इन्द्रिय-विज्ञेय विषय का पश्चाद्भावी है, यह भी नहीं सोचना चाहिए कि मानस-प्रत्यक्ष गृहीत का पुनर्ग्रहण-मात्र करता है।

इस प्रकार के मानस-प्रत्यक्ष को प्रमाणित करने के लिए पिछले व्याख्या-

कारों ने यह कल्पना की थी कि इन्द्रिय-विज्ञान और व्यावहारिक विकल्प-विज्ञान को जोड़ने के लिए एक मध्यवर्ती कड़ी आवश्यक है जो एक ओर वस्तु-साक्षात्कार से जुड़ी हो, दूसरी ओर मनोविज्ञान से। यही मानस-प्रत्यक्ष है। किन्तु धर्मोत्तर इसे नहीं मानते। वे मानस–प्रत्यक्ष को असिद्ध किन्तु अविरुद्ध मानते हैं।

स्वसंवेदन प्रत्येक विज्ञान की और विज्ञान-संप्रयुक्त धर्मों की स्वप्रकाशता है। मीमांसक मानते हैं कि ज्ञान केवल विषय को प्रकाशित करता है। उसकी अपनी सत्ता का विषय की 'ज्ञातता' से अनुमान किया जाता है। नैयायिक ज्ञान के ज्ञान को अनुव्यवसाय-सिद्ध मानते हैं। माध्यमिक भी ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानते हैं। इन सबके विरोध में यह स्वसंवेदन का सिद्धान्त है।

धर्मकीर्ति ने सुख के ज्ञान को स्वसंवेदन की सिद्धि के लिए प्रस्तुत किया है। सुख का ज्ञान निश्चित रूप से अपरोक्षतया होता है। सांख्य सुख को बाह्य धर्म मानता है किन्तु बौद्ध उसे चित्त-सम्प्रयुक्त धर्म मानते हैं। नीलादि के सुख-सहित संवेदन में नील की बाह्यता और सुख की आन्तरिकता स्पष्ट प्रतिभासित होती है।

योगि-प्रत्यक्ष भावना का चरम परिणाम है। प्रामाणिक अर्थ का बार बार मन में निवेश भावना कहलाती है। इस भावना का उत्कर्ष होने पर ज्ञान में प्रस्फुटितता उत्पन्न होती हैं। भावना के चरमोत्कर्ष पर भाव्यमान अर्थ का स्फुट ज्ञान होता है। यही योगि-प्रत्यक्ष है जिसमें ध्येय विषय भावना के बल से समक्ष और स्फुट अनुभूत होता है। वह अनुभव निर्विकल्प होता है।

धर्मोत्तर की इस व्याख्या में एक बात विचारणीय है। योगि-प्रत्यक्ष का विषय भावना के पहले ही प्रमाण-सिद्ध बताया गया है। उस समय के सविल्पक ज्ञान के स्थान पर योगि-प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ज्ञान देता है। योगि-प्रत्यक्ष किसी तत्व को यदि प्रमाणित करता है तो उसे पहले से प्रमाण की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए और यदि प्रमाणित नहीं करता है तो उसे प्रमाण-कोटि में नहीं रखना चाहिए। योगि-प्रत्यक्ष केवल 'वर्णनात्मक ज्ञान' को 'परिचयात्मक' रूप देता है, विकल्प को साक्षात्कार में बदलता है। वह अपने स्वतन्त्र सामर्थ्य से 'नवीन' तत्व-ज्ञान नहीं उत्पन्न करता। यदि योगी विकल्प-सिद्ध अर्थ का भावना से प्रत्यक्ष करता है तो बौद्ध-सम्मत प्रमाण-व्यवस्था का सिद्धान्त व्याहत होता है। यदि विकल्पार्थ और है, प्रत्याक्षार्थ और, तो विकल्प प्रत्यक्षार्थ में अप्रमाण है एवं ऐसी स्थिति में प्रमाण-सिद्ध सामान्य तत्व विशेष-प्रत्यक्ष से असम्बद्ध रहेगा।

वास्तव में योगि-प्रत्यक्ष बौद्ध परम्परा के उस युग का सिद्धान्त है जब

ऋद्धियुक्त अथवा प्रज्ञायुक्त मन को अतीन्द्रिय एवं सूक्ष्म अर्थों के साक्षात्कार में समर्थ माना जाता था। तब मनोविज्ञान के लिए भी यह आवश्यक शर्त नहीं थी कि इन्द्रिय-विज्ञान इस प्रत्यक्ष का समनन्तर-प्रत्यय हो। जैसे इन्द्रियों के द्वारा रूपादि का ग्रहण माना जाता था, ऐसे ही मन के द्वारा धर्मों का ग्रहण माना जाता था। ऐसे मनोविज्ञान की एक उत्कृष्ट स्थिति योगि-प्रत्यक्ष मानी जाती थी। चित्त-विप्रयुक्त धर्मों को प्राप्ति एवं असंस्कृत धर्मों को अभाव कहने से सौत्रान्तिकों ने उन सब धर्मों को वास्तविकता के क्षेत्र से हटा दिया जिनके साक्षात्कार के लिए मनोविज्ञान, लौकिक एवं लोकोत्तर, की आवश्यकता थी। अब रह गये केवल रूप, चित्त एवं चित-सम्प्रयुक्त। रूप के लिए इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, चित्त एवं चितसम्प्रयुक्त के लिए स्वसंवेदन, प्रज्ञप्ति एवं अभाव के लिए विकल्प और अनुमान––यही शेष रहे प्रमेयों के लिए प्रमाण। ऐसी स्थिति में मानस-प्रत्यक्ष और योगि-प्रत्यक्ष अनावश्यक हो जाते हैं।

प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय क्षणिक स्वलक्षण है, प्राप्य विषय सन्तान है, जबकि अनुमान का ग्राह्य विषय अवस्तु-विकल्प है। प्राप्य विषय अथवा प्रवृत्ति-विषय स्वलक्षण है। प्रत्यक्ष में वस्तु अनुभव में दी होती है और उसे निश्चित करने में हम विकल्प में उपनीत होते हैं। अनुमान में एक विकल्प-प्रत्यक्ष दिया होता है जिसके सहारे हम वास्तविकता तक पहुंचना चाहते हैं। एक में परिचित का वर्णन करते हैं, दूसरे में वर्णित का परिचय प्राप्त करते हैं।

स्वलक्षण और सामान्य-लक्षण

वस्तु स्वलक्षण है, उसका स्वरूप असाधारण होता है। उसकी यह विशेषता है कि निकट या दूर होकर वह ज्ञाता को क्रमशः स्फुट अथवा अस्फुट ज्ञान देती है। उसके निकट होने पर उसकी आकृति का प्रतिबिम्ब स्फुट होता है, उसके दूर होने पर अस्फुट। यही वस्तु का अकृत्रिम, अनारोपित रूप है, जिसमें वह परमार्थ-सत् होती है।

वास्तविकता की इस परिभाषा में निकटता और दूरता का उल्लेख बहुत ही त्रुटिपूर्ण लगता है। स्पर्श और रस का दूरी से प्रतिभास ही नहीं उपजता, विज्ञान का अपना प्रतिभास कभी स्फुट होता ही नहीं। यह तो मानो केवल रूप, ध्वनि आदि विषयों को लेकर ही लक्षण बना है। प्रदीपकार ने यह उपाय सुझाया है कि यहां स्फुट-प्रतिभास-जनकता में एकार्थ-समवेत स्वभाव की असाधारणता को ही अभिप्रेत अर्थ मानना चाहिए।

वस्तु का मूल लक्षण अर्थ-क्रिया-कारिता है[1]। वस्तु जिससे लक्षित होती है, पता चलता है, वह है उसकी प्रमाता पर क्रिया, जिससे प्रमाता के ज्ञान में परिवर्तन स्पष्ट होता है। वस्तु के योग्य देश और काल में विद्यमान होने पर उसका ज्ञान में प्रतिबिम्ब स्पष्ट होता है, अन्यथा नहीं। यही सूत्रकार का अभिप्राय है। जिसकी उपस्थिति से ज्ञान में प्रतिबिम्ब उभरता है वह सत् है।[2] यहां धर्मोत्तर की व्याख्या सदोष लगती है। दुर्वेक के द्वारा प्रस्तुत वस्तु की विशेषार्थता अस्वीकार्य नहीं है, किन्तु वह स्वलक्षण का शब्दार्थ होते हुए भी सूत्र का मूल अर्थ नहीं हो सकता।

सामान्य लक्षण समारोपित या कल्पित होता है, इसलिए उसका ज्ञान उस वस्तु की उपस्थिति की अपेक्षा नहीं रखता जिस पर उसका आरोप किया जाता है। वह अनुमान का ग्राह्य विषय है।

प्रमाण और प्रमाण-फल

वही प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थ का प्रदर्शक होने के कारण प्रमाण है, वही अर्थ की अवगति :प्रतीति = निश्चय: के रूप में प्रमाण-फल है। एक-वस्तु होते हुए दोनों में रूप-भेद है। प्रमाणात्मक ज्ञान में वस्तु सारूप्य रहता है जोकि वस्तु के स्वरूप-निश्चय का हेतु है। प्रमाण-फलात्मक ज्ञान में प्रमाण और प्रमेय की अलग व्यवस्था होती है जोकि प्रमाण का ही व्यक्ततर रूप है।

वस्तुत: धर्मोत्तर के इस प्रत्यक्ष-पृष्ठ-भावी विकल्प के रूप में प्रमाण-फल का निर्धारण वैसी ही कठिनाई फिर उत्पन्न करता है जैसी उसकी 'अभ्रान्तता' की व्याख्या। धर्मकीर्ति में प्रमाण और प्रमाण-फल सर्वथा एक हैं—

---

१. न्याय-वैशेषिक में सत्ता एक सामान्य है, कुछ सत्तावान् पदार्थ नित्य हैं, कुछ अनित्य। जैनों का लक्षण है 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' इसमें सभी सत्तावान् पदार्थ एकसाथ ही नित्य एवं अनित्य हैं। अद्वैत में 'यत् सत् तन्नित्यम्'। बौद्ध परिभाषा ठीक उलटी है 'यत् सत् क्षणिकम्'।

२. अपने आप को जताना, अपना स्पष्ट प्रतिबिम्ब उभारना, यही वस्तु की मूल पहिचान या लक्षण है। वस्तु अपनी क्षणिक क्रिया के साथ निवृत्त हो जाती है, ज्ञाता के लिए दूसरे क्षण में केवल उसका प्रतिबिम्ब शेष रहता है। यही उस वस्तु की अपनी पहिचान, स्वलक्षण है। वस्तु के अभाव में उसका अस्फुट प्रतिबिम्ब उत्पन्न हो सकता है, इसलिए स्फुट प्रतिबिम्ब के कारण को स्वलक्षण कहा है। यहां वस्तु एक 'घटनामात्र' बन जाती है और उसका ज्ञान उससे नियत-सम्बन्ध रखने वाली 'अन्य घटना'।

वही ज्ञान वस्तु का ज्ञापक है, वही वस्तु की अवगति। किन्तु अवगति को विकल्प मानने पर सविकल्पक प्रत्यक्ष ही स्वीकृत हो जाता है। धर्मोत्तर कहते हैं कि यह विकल्प सारूप्य के बल से ही वस्तु को निश्चित करता है, इसलिए प्रमाण प्रत्यक्ष ही रहता है। प्रमाण-फल केवल विषय-विषयी-भाव को व्यवस्थित करता है। किन्तु वस्तुतः यह प्रसंगान्तर प्रतीत होता है।

न्याय बिन्दु

सूत्र : १

पुरुषार्थ-सिद्धि के लिये आवश्यक होने के कारण सम्यग्ज्ञान को व्युत्पदित किया जाता है।

अनुबन्ध-विचार—प्राचीन परिपाटी के अनुसार ग्रन्थ के आरम्भ में उसके अभिधेय, प्रयोजन और सम्बन्ध का प्रतिपादन होना चाहिए।

अनुबन्ध-विचार यहां छोड़ दिया गया है, उस विषय में ज्ञातव्य है :—

सब मानवीय प्रयोजनों की सिद्धि के लिए सम्यग्ज्ञान आवश्यक है। इसलिए उसका प्रतिपादन किया जाता है। धर्मोत्तर के अनुसार प्रकरण का अभिधेय सम्यग्ज्ञान है, उसका व्युत्पादन प्रयोजन है। सम्यग्ज्ञान का प्रयोजन पुरुषार्थ-सिद्धि, यही प्रकरण के अभिधेय का प्रयोजन है। विनीतदेव ने इसे प्रयोजन का प्रयोजन कहा है। प्रकरण का प्रयोजन के साथ सम्बन्ध व्युत्पदकता का है। यद्यपि अधिकार की पृथक् चर्चा नहीं की गई है तथापि सामर्थ्य से अवगत होता है कि प्रेक्षावान् व्युत्पित्सु :जिज्ञासु: को अधिकारी मानना चाहिये।

धर्मोत्तर

सम्यग्ज्ञान = प्रमाण और प्रमाण-फल:—सम्यग्ज्ञान धोखा न देने वाले ज्ञान को कहते हैं। लोग भी पहले दिखाई हुई वस्तु को प्राप्त कराने वाले व्यक्ति को सच्चा कहते हैं। इसी प्रकार स्वयं प्रदर्शित वस्तु को पहुंचाने वाला ज्ञान सच्चा या सवादक कहा जाता है।

टिप्पणी

(व्यवहार में वस्तु को देखना, उसे प्राप्त करने के लिए क्रिया, एवं उसकी प्राप्ति, ये तीन अलग-अलग बातें हैं। ज्ञान के विषय में यह अभिप्राय नहीं है कि पहले जो वस्तु जानी गई वही कालान्तर में प्रयत्नपूर्वक वस्तुतः पाई जाय, तब ज्ञान को सच्चा मानना चाहिये। यहां तात्पर्य अधिक सूक्ष्म है। ज्ञान में वस्तु जैसी भासती है वैसा ही उसका निश्चय होना चाहिये। ये दोनों एक ही ज्ञान के दो व्यापार हैं—वस्तु के स्वरूप को प्रकट करना, और उसके स्वरूप का प्रयोजनीय अर्थ के रूप में निश्चय करना। इन दोनों व्यापारों में सामंजस्य या संवाद होना चाहिये। चमकती रेत के भासित होने पर 'यह

जल है' इस प्रकार का निश्चय नहीं होना चाहिये। इनमें पहला व्यापार ज्ञान का प्रदर्शक व्यापार है। दूसरा प्रवर्तक या प्रापक)

प्रदर्शित वस्तु की ओर 'ध्यान का' प्रेरित करना ही ज्ञान के लिए उसका प्राप्त कराना है, अन्य कुछ नहीं, क्योंकि ज्ञान वस्तु को बना कर या उठा कर नहीं देता बल्कि ध्यान को उसकी ओर करते हुए उस तक पहुंचाता है। ध्यान को उसकी ओर करने का अर्थ भी यही है कि वस्तु का स्वरूप प्रयोजनीय अर्थ के रूप में प्रदर्शित होता है। ज्ञान किसी को भी किसी ओर ज़बरदस्ती नहीं ठेल सकता।

टिप्पणी

(सम्यग्ज्ञान में प्रमाण और प्रमाणफल दोनों संगृहीत हैं। वही ज्ञान वस्तुग्राहक के रूप में प्रमाण है और वस्तु-निश्चय के रूप में प्रमाणफल है। वस्तु का ग्रहण और वस्तु का प्रदर्शन एक ही बात है। जैसेकि वस्तु का निश्चय और उसकी प्राप्ति एक ही बात है।)

इसलिए वस्तु की प्राप्ति ही प्रमाणफल है। वस्तु के प्राप्त होने पर, अर्थात् ज्ञान के द्वारा प्रयोजनीय अर्थ के निश्चित होने पर, यह माना जायेगा कि ज्ञान ने व्यक्ति को प्रवृत्त किया और वस्तु तक पहुंचाया। इस प्रकार वस्तु की प्राप्ति से प्रमाण का व्यापार समाप्त होता है। इसीलिये प्रमाण का विषय पहले अप्राप्त होता है :अर्थात् नई बात प्रकट करने वाला ज्ञान ही प्रमाण कहलाता है:। जो ज्ञान पहली बार वस्तु का ग्रहण करता है उसी से व्यक्ति प्रेरित होकर वस्तु तक निश्चय के द्वारा पहुंचा माना जाता है। उसी वस्तु में दूसरा ज्ञान और अधिक कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए पूर्व-परिचित विषय की फिर से सूचना देने वाला ज्ञान प्रमाण नहीं माना जाता। जो वस्तु सम्मुख देखी जाती है उसका प्रवृत्ति का विषय बनना :अर्थात् प्रयोजनीय अर्थ के रूप में निश्चय: भी प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही माना जाता है। क्योंकि जिस वस्तु में प्रत्यक्ष का साक्षात्कारात्मक व्यापार उसके अनन्तर ही उत्पन्न हुए विकल्प के द्वारा निर्धारित होता है :जैसे जल के प्रत्यक्ष के अनन्तर ही 'यह जल है' इस विकल्प का प्रत्यक्ष निर्धारित होता है: उस वस्तु का प्रदर्शक प्रत्यक्ष होता है। इसलिए जो वस्तु इस तरह से जानी जाती है कि मानो सामने देखी हो, वह प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा प्रदर्शित कही जाती है :और उसी के द्वारा वह प्रयोजनीय अर्थ के रूप में निश्चित भी मानी जाती है:।

इसके विपरीत अनुमान हेतु के देखने से निश्चय उत्पन्न करते हुए

प्रवृत्ति के विषय को दिखलाता है । इस प्रकार प्रत्यक्ष-प्रमाण वस्तु को नियत किन्तु सम्मुख प्रकाशमान रूप में दिखलाता हैं जबकि अनुमान उसे नियत किन्तु हेतु-सम्बद्ध रूप में दिखलाता है । दोनों ही नियत वस्तु के प्रदर्शक हैं इसलिये वे प्रमाण हैं । इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार का ज्ञान प्रमाण नहीं है ।

जिस वस्तु को प्राप्त किया जा सकता है उस :शक्यप्राप्तिक: वस्तु को प्रतिबिम्बित करते हुए ही ज्ञान प्रापक होता है और प्रापक होने के कारण ही प्रमाण होता हैं । इन प्रमाणों से अन्य ज्ञान के द्वारा प्रदर्शित अर्थ कहीं अत्यन्त विपरीत होता है, जैसे मरीचिका में जल जोकि अस्तित्वहीन होने के कारण प्राप्त नहीं किया जा सकता, कहीं अस्तित्व और नास्तित्व में अमर्यादित होता है, जैसे संदिग्ध वस्तु । इस प्रकार की अस्तित्व-नास्तित्व से युक्त वस्तु जगत् में नहीं हैं इसलिये प्राप्त नहीं की जा सकती । नियामक को बिना देखे प्रवृत्त हुए हेतु-रहित विकल्प के द्वारा भी अस्तित्व और नास्तित्व में अनियत वस्तु ही प्रदर्शित की जा सकती है और वह प्राप्त नहीं की जा सकती । इस प्रकार अत्यन्त विपरीत अथवा संदिग्ध वस्तु को प्रदर्शित करते हुए अन्य प्रकार का ज्ञान प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि उसकी प्रदर्शित वस्तु प्राप्त नहीं की जा सकती ।

प्रयोजन-सिद्धि के इच्छुक लोगों के द्वारा अर्थ-क्रिया की समर्थ—:प्रयोजन-सिद्धि में समर्थ: वस्तु की प्राप्ति के लिए ज्ञान की खोज की जाती हैं । जैसा वे ज्ञान खोजते हैं वैसा ही शास्त्र में विचारा जाता हैं । इसलिये अर्थक्रिया में समर्थ वस्तु का प्रदर्शक ही सम्यक् ज्ञान होता हैं; जो वह प्रदर्शित करता है वही उसे प्राप्त कराना चाहिये । क्योंकि अर्थाधिगति को प्रापक का स्वभाव कहा गया हैं । प्रदर्शित वस्तु से अन्य वस्तु आकार, देश और काल के द्वारा होती है क्योंकि विरुद्ध धर्म का संसर्ग ही वस्तु को भिन्न करता हैं । देश, काल, आकार का भेद ही विरुद्ध धर्म का संसर्ग हैं । इसलिए अन्य आकार से युक्त वस्तु का ग्राहक ज्ञान आकारान्तर से युक्त वस्तु में प्रमाण नहीं है । जैसे पीतशंख का ग्राहक ज्ञान शुक्ल शंख में प्रमाण नहीं है । एक देश में स्थित वस्तु का ग्राहक दूसरे देश में स्थित वस्तु का ज्ञान नहीं है, जैसेकि चाभी के छेद में दीखती हुई मणि की प्रभा का ग्राहक ज्ञान कमरे के अन्दर की मणि में प्रमाण नहीं है । और न एक समय की वस्तु का ग्राहक ज्ञान दूसरे समय की वस्तु का प्रमाण हैं—जैसेकि आधी रात में मध्याह्न कालीन वस्तु का ग्राहक स्वप्न-ज्ञान आधी रात की वस्तु में प्रमाण नहीं है ।

यह शंका हो सकती है कि यद्यपि उसी देश और उसी आकार से युक्त

वस्तु प्राप्त की जा सकती है तथापि जिस समय वस्तु का ज्ञान होता है ठीक उस समय की वस्तु कभी प्राप्त नहीं की जा सकती। किन्तु हम यह नहीं कह रहे हैं कि जिस समय ज्ञान होता है उसी समय वस्तु प्राप्त होनी चाहिये। दर्शन—:प्रतिभासः का समय और है, प्राप्ति—:निश्चयः का समय और है। किंतु जिस समय की वस्तु का ज्ञान होता है वही प्राप्त होनी चाहिये। यह प्राप्ति कालान्तर में होते हुए भी :दृष्ट और प्राप्त वस्तुओं के: अभेद के निश्चय से उनकी एकता सन्तानगत समझनी चाहिये।

सम्यक् ज्ञान दो प्रकार का है—अर्थक्रिया का निर्भासक और अर्थ-क्रिया-समर्थ वस्तु में प्रवर्त्तक। इनमें जो प्रवर्तक है उसकी यहां परीक्षा की जाती है। वह :निश्चयात्मक ज्ञानः पूर्ववर्ती होते हुए भी :वास्तविकः अर्थ-प्राप्ति का साक्षात् कारण नहीं है। सम्यक् ज्ञान होने पर पहले देखे हुए विषय का स्मरण होता है। स्मरण से इच्छा उत्पन्न होती है, इच्छा से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से :वास्तविकः प्राप्ति। इसलिए वह प्रवर्त्तक ज्ञान :अर्थ-क्रिया की अनुभूति रूप प्राप्ति काः साक्षात् हेतु नहीं है। अर्थ-क्रिया-निर्भासक ज्ञान यद्यपि साक्षात् प्रापक है तथापि वह परीक्षा का योग्य विषय नहीं है। जिसमें बुद्धि-मान् लोग संशयालु होते हैं उसी की परीक्षा की जाती है। अर्थक्रिया के निर्भासि के विदित होने पर पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है। इसलिए प्रयोजनार्थी आशंका-युक्त नहीं रहते। इसलिए उसकी परीक्षा नहीं की जाती।[1]

---

१. किसी वस्तु का परिचय देते हुए ज्ञान यह भी बताता है कि वह वस्तु किसी प्रवृत्ति का विषय बन सकती है, अर्थात् उसके द्वारा किसी प्रयोजन की सिद्धि सम्भव है। जल का प्रतिभास यह निश्चित कराता है कि 'यह जल है', जिसमें यह उपलक्षित होता है कि 'इससे प्यास बुझाई जा सकती है'। इन दोनों का—प्रतिभास अथवा प्रदर्शन एवं निश्चय अथवा प्रापण या प्रवर्तन का—अविरोध ही ज्ञान की सम्यक्ता है, क्योंकि यदि इस प्रतिभास-गृहीत विषय से प्यास नहीं बुझाई जा सकती तो यह जल नहीं है और ऐसी स्थिति में 'यह जल है' यह निश्चयात्मक ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है।

'यह जल है' इसके सम्यग्ज्ञान होने के लिये इतना ही आवश्यक है कि जिससे प्यास बुझाई जा सकती है उसही का यह ज्ञान हो। यह आवश्यक नहीं है कि उससे सचमुच प्यास बुझाकर देखा जाए, जैसाकि नैयायिक-सम्मत प्राप्ति का अर्थ है।

किसी वस्तु को विषय बनाते हुए, सम्मुख प्रस्तुत करते हुए, ज्ञान उसका प्रदर्शक होता है। विषय को प्रयोजनीय अर्थ के रूप में सूचित करते हुए,

इच्छा का विषय ही पुरुषार्थ कहलाता है। इच्छा विषय को लेने की अथवा छोड़ने की हो सकती है। हेय और उपादेय के अतिरिक्त कोई तीसरी राशि नहीं है। उपेक्षणीय वस्तु अनुपादेय होने के कारण हेय ही है[2]। पुरुषार्थ की सिद्धि का अर्थ है त्याग अथवा ग्रहण। कारणाश्रित सिद्धि उत्पत्ति कही जाती है, ज्ञानाश्रित सिद्धि अनुष्ठान कहलाती है। हेय का त्याग और उपादेय का उपादान अनुष्ठान है।

सब प्रकार की सिद्धि सम्यग्ज्ञान-मूलक है। मिथ्या ज्ञान से काक-तालीय अर्थसिद्धि भी नहीं होती, क्योंकि यदि ज्ञान प्रदर्शित अर्थ को प्राप्त करता है तब उसी से अर्थसिद्धि होती है और प्रदर्शित का प्रापक होने के कारण वह सम्यग्ज्ञान है। प्रदर्शित को प्राप्त न कराते हुए मिथ्या ज्ञान हो जाता है। अप्रापक ज्ञान अर्थसिद्धि का कारण कैसे होगा? इसलिए जो मिथ्या ज्ञान है उससे अर्थसिद्धि नहीं होती और जिससे अर्थसिद्धि होती है वह सम्यग्ज्ञान है ही।

विषय की अर्थक्रियाकारिता की ओर ध्यान दिलाते हुए ज्ञान प्रवर्तक होता है। प्रस्तुत विषय अर्थक्रियासमर्थ वस्तु होने के कारण उससे प्रयोजन-सिद्धि सम्भव है, इस प्रकार प्राप्ति की सम्भावना सूचित करते हुए ज्ञान प्रापक होता है।

यद्यपि अर्थ-क्रिया-समर्थ वस्तु का निश्चय भी 'प्राप्ति' है और अर्थ-क्रिया की अनुभूति भी, तथापि अर्थक्रिया–समर्थ वस्तु का प्रापक ज्ञान प्रमाण है, नकि प्रयोजन-सिद्धि से अभिन्न अर्थ-क्रिया के अनुभव के रूप में ज्ञान। भास्वरतया प्रत्यक्ष 'यह' अथवा धूमानुमीयमान 'वह' आग है जिसे ताप सकते हैं, यह प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण है, आग का तापना अर्थ-क्रिया की अनुभूति है। प्रमाण अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु का ज्ञान है, अर्थक्रिया की अनुभूति प्रमाण पूर्वक प्रयोजनसिद्धि है। दोनों ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं, किंतु प्रमाण वस्तु के क्रिया-सामर्थ्य का निश्चय कराते हुए प्रमाता की प्रवृत्ति का हेतु बनता है जबकि उस प्रवृत्ति से कालान्तर में वस्तु के क्रिया-त्मक ज्ञान से प्रयोजन सिद्ध होता है।

२. न्याय में तीन राशियां मानी जाती हैं—हेय, उपादेय, और उपेक्षणीय। नैयायिक मानते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सविकल्पक को जन्म देता है, सविकल्पक ज्ञानोपादानादि बुद्धि को।

टिप्पणी:—

प्रदर्शक, प्रवर्त्तक और प्रापक में वास्तविक अभेद पर
व्यावृत्तिमूलक या तात्विक भेद

दुर्वेकमिश्र

प्रवर्त्तकता को ही प्रापकता कहने का अभिप्राय यह है—यद्यपि विषय को साक्षात् कर उसके अनुरूप निश्चय को उत्पन्न करते हुए कोई ज्ञान प्रदर्शक कहलाता है, अन्य ज्ञान प्रदर्शित करते हुए ही बाह्य प्रवृत्ति का कारण बनते हुए प्रवर्त्तक कहलाता है, अन्य कुछ ज्ञान प्रवर्तन के द्वारा बाह्य प्राप्ति का निमित्त होता हुआ प्रापक कहलाता है। तथापि ज्ञान का वही प्रवर्त्तकता आदि प्रेरक व्यापार अथवा बाह्य-प्रवृत्ति का कारण-भाव प्रदर्शन से अन्य नहीं ठहरता है, क्योंकि ज्ञान न तो किसी पुरुष को ठेल सकता है, और न किसी विषय को जन्म देता है, और इस तरह से सामान्य अर्थ में वह प्रवर्त्तन अथवा प्रापण नहीं कर सकता। इसलिये वस्तुन: सभी ज्ञान के प्रवर्त्तन और प्रापण-व्यापार निश्चयानुगामी उपलब्धि के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। इसलिये इस स्थिति में प्रथम ज्ञान को ही प्रमाण निर्धारित किया जाता है और इसलिए प्रदर्शकता आदि का वस्तुत: अभेद होता है, यद्यपि उसका व्यावृत्तिमूलक भेद रहता ही है। इसलिये ये प्रदर्शक, प्रवर्त्तक और प्रापक शब्द कृतकत्व और अनित्यत्व आदि के समान पर्याय नहीं हैं। :इन शब्दों से वही वस्तु किन्तु अनेक रूप सूचित होते हैं। :

प्रदर्शित के प्रापण में पुनरुक्ति नहीं

धर्मोत्तर की बात पर जो किसी ने कहा है उसका भी उत्तर हो जाता है। 'यदि उपदर्शकत्व ही प्रापकत्व है तो यह जो कहा गया है कि प्रदर्शित अर्थ को पहुंचाता हुआ ज्ञान संवादक होता है, उसका यह अर्थ होगा कि 'उपदर्शित को उपदर्शित करते हुए', और यह अर्थ-भेद न होने के कारण युक्तिसंगत नहीं है।

उत्तर इस प्रकार है—यदि वस्तुगत अर्थभेद (के अभाव में पुनरुक्ति की आपत्ति को) कहा जा रहा है तो कुछ दोष नहीं है क्योंकि, वस्तुगत अर्थ-भेद हमें अभिप्रेत नहीं है, पर यदि कहा जाय कि तब भी (पुनरुक्ति होती है और) ऐसा नहीं कहा जाना चाहिये, तब तो आपत्ति का क्षेत्र बहुत बढ़ जायेगा। तब यह क्यों नहीं कहा जायेगा कि अर्थभेद के कारण यह भी नहीं कहना चाहिये कि 'कृतकत्व अनित्यत्व को सिद्ध करता है'। किंतु यदि यह आशय हो कि शब्द के प्रयोग की अपेक्षा से भी अर्थाभेद है तो उत्तर यह है कि इस प्रकार का

अर्थभेद असिद्ध है, क्योंकि व्यावृत्ति का भेद ऊपर दिखाया जा चुका है। : एक्स्टेंशन एक होते हुए भी, इंटेंशन में भेद है। :

इससे यह अर्थ निकलता है कि अर्थ को साक्षात् प्रदर्शित कर उसके अनुरूप निश्चय को उत्पन्न कर प्रवर्तन के द्वारा बाह्य प्राप्ति का साक्षात् अथवा योग्यतया हेतु बनते हुए ज्ञान संवादक होता है। वास्तव में प्रवर्त्तक का और प्रापक का प्रमेय की उपलब्धि-रूपी प्रदर्शन-व्यापार से अतिरिक्त कोई व्यापार नहीं है, और इसलिये प्रवर्त्तकता और प्रापकता का उससे भिन्न कोई प्रेरण व्यापार नहीं है।

प्रामाण्य = प्रापण-शक्ति

विषय की प्राप्ति की सम्भावना प्रदर्शित होने के कारण वास्तविक प्राप्ति न होने पर भी विषय को ज्ञान के द्वारा प्रापित कहा जाता है। इसीलिये ज्ञान की प्रापण-शक्ति ही उसका प्रामाण्य है। यह प्रापण-शक्ति प्राप्य अर्थ से अस्तित्व का लाभ करती है, क्योंकि जिस कारण प्रवृत्ति होती है वह :बाह्य: प्राप्ति के योग्य होना चाहिए।

प्रामाण्य का निश्चय

इस प्रापण-शक्ति अथवा प्रामाण्य का निश्चय सभी अर्थक्रिया की अनुभूति में और अनुमान में स्वतः ही होता है। प्रवर्त्तक प्रत्यक्ष में कहीं स्वतः होती है, कहीं परतः। स्वतः वहां होती है जब अभ्यास के कारण सब ओर से भ्रम की शंका निरस्त हो, जहां निद्रा आदि से अनभिहत होकर प्रत्यक्ष-ज्ञान निकट-देशस्थ वस्तु का ग्रहण करता हो, जबकि व्यंजक के अधीन अन्य प्रकार की अभिव्यक्ति की आशंका न की जा सके। ऐसी स्थिति में विषय के रूप के संवेदन से ही ज्ञान सत्यार्थक निश्चित होता है। अन्य प्रकार के प्रवर्त्तक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य अर्थक्रिया के अनुभव रूप स्वतः प्रमाण ज्ञानान्तर से निश्चित होता है। अथवा अव्यवहित पश्चाद्वर्ती विषय के दर्शन से मध्यवर्ती भ्रान्ति के संशय के हटने से निश्चय होता है।

प्रमाण-परीक्षा में चार विषयों पर विरुद्ध मत देखे जाते हैं—ये हैं प्रमाण की संख्या, लक्षण, गोचर और फल के विषय में। संख्या-विषयक विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए कहते हैं :

सूत्र २

सम्यग्ज्ञान द्विविध :दो प्रकार का: है।

धर्मोत्तर

'द्विविध' का अर्थ है दो प्रकार का। संख्या प्रदर्शित करने से सम्यक्

ज्ञान के अन्तर्गत व्यक्ति-भेद प्रदर्शित होता है ।

:तात्पर्य यह हुआ: सम्यक् ज्ञान में दो ही व्यक्ति-पदार्थ संगृहीत होते हैं । व्यक्ति-भेद बतलाने पर प्रत्येक व्यक्ति का सम्यक् ज्ञान के रूप में अपना पृथक् लक्षण बताया जा सकता है । व्यक्ति-भेद न प्रदर्शित करने पर सब व्यक्तियों में अनुगत एक ही सम्यक् ज्ञान का लक्षण बतलाना संभव नहीं है । इसलिए संख्या के भेद का कहना लक्षण कहने का अंग है । यदि व्यक्ति-भेद पर आश्रित संख्या-भेद न प्रकट किया जाय तो लक्षण-भेद नहीं प्रकट किया जा सकता । लक्षण बतलाने के लिये ही पहले संख्या का भेद बतलाया गया है ।

टिप्पणी :

दुर्वेक मिश्र

यह शंका हो सकती है कि 'सब व्यक्तियों में अनुगत एक लक्षण नहीं कहा जा सकता', यह क्यों कहा जा रहा है जबकि अविसंवादी ज्ञान के रूप में प्रमाण का एक लक्षण विद्यमान है । यह तो ठीक है किन्तु प्रवृत्ति के अभिलाषी लोगों के लिये विभिन्न प्रकार के ज्ञानों का जो प्रातिस्विक रूप प्रवृत्ति में उपयोगी होता है उसका एक लक्षण नहीं मिलता, अथवा यह कहना चाहिये कि विरुद्ध मतों के निराकरण में समर्थ एक साधारण लक्षण नहीं होता है । अविसंवादकता-रूप लक्षण से विप्रतिपत्ति निराकृत नहीं होती है ।

धर्मोत्तर

वे दो प्रकार क्या हैं, इस पर कहते हैं :

सूत्र ३

प्रत्यक्ष और अनुमान

धर्मोत्तर

'इन्द्रिय पर आश्रित' इस अर्थ में प्रत्यक्ष शब्द द्वितीया तत्पुरुष समास के रूप में बनता है[1] । प्राप्त, आपन्न आदि के साथ समास में उत्तर-पद के अनुसार लिंग का प्रतिषेध होने से अभिधेय के अनुसार लिंग होता है और उसके बाद प्रत्यक्ष शब्द तीनों लिंगों में प्रयुक्त होता है । प्रत्यक्ष की इन्द्रियाश्रितता शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाती है, उसका प्रयोग नहीं । प्रत्यक्ष की यह इन्द्रियाश्रितता वस्तुत: अपने साथ समवेत उसकी विषय-साक्षात्कारिता को लक्षित करती है । फलत: विषय का जो साक्षात्कारात्मक ज्ञान है वह प्रत्यक्ष

१. आचार्य दिङ्नाग ने 'अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्' यह व्युत्पत्ति मानी है । दुर्वेक: इस व्युत्पत्ति से प्रत्यक्ष अव्ययीभाव समास बन जायगा ।

कहलाता है । यदि इन्द्रियाश्रित होना ही प्रत्यक्ष के प्रयोग का निमित हो तो केवल इन्द्रिय-विज्ञान ही प्रत्यक्ष कहा जायगा, मानस-विज्ञान आदि नहीं। इसी प्रकार, 'गो' शब्द की व्युत्पत्ति है 'जो जाती है', किन्तु इस प्रकार की व्युत्पत्ति होने पर भी 'गो' शब्द का प्रयोग में अर्थ 'गोत्व' ही होता है । इस गोत्व रूपी अर्थ को नैरुक्तिक अर्थ उपलक्षण द्वारा सूचित करता है क्योंकि नैरुक्तिक अर्थ जिस वस्तु की ओर संकेत करता है उसी में यह प्रायोगिक अर्थ समवेत होता है । इस प्रकार चलने या न चलने पर भी गाय 'गो' शब्द की वाच्य होती है ।

'मान' शब्द 'करण' के अर्थ में सिद्ध होता है । जिसके द्वारा नापा जाय अथवा जाना जाय वह 'मान' है । और यह 'मान' शब्द सारूप्य-लक्षण प्रमाण का वाचक है[3] ।

हेतु के ग्रहण और व्याप्ति के स्मरण के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण यह 'अनुमान'[4] कहलाता है । 'हेतु पक्ष में विद्यमान है'[5] यह जान लेने पर और हेतु तथा साध्य के सम्बन्ध के[6] याद आने पर अनुमान प्रवृत्त होता है, एवं इसलिए वह 'पीछे उत्पन्न होनेवाला' कहलाता है ।

प्रत्यक्ष और अनुमान का समुच्चय यह सूचित करता है कि वे दोनों तुल्यबल हैं[7] । जिस प्रकार वस्तु के साथ अविनाभाव-सम्बन्ध होने के कारण उस तक पहुंचाता हुआ प्रत्यक्ष प्रमाण है, उसी प्रकार वस्तु के साथ अविना-भाव सम्बन्ध होने के कारण निश्चित अर्थ तक पहुंचाता हुआ अनुमान भी

---

३. बौद्धों के अनुसार यद्यपि प्रमाण ज्ञान को कहते हैं नकि ज्ञान के साधन को, तथापि वे प्रमाण के अन्दर दो पक्ष बतलाते हैं : एक तो विषय का अवगतिरूप प्रमाण-फल और दूसरे ज्ञानगत आकार की विषय-निर्देशकता, जोकि सारूप्य कहलाती है । ज्ञानगत सारूप्य साधन है और ज्ञान से अभिन्न अधिगति फल है । इस प्रकार वही ज्ञान प्रमाण है और वही प्रमाण-फल है ।

४. 'अनु' का अर्थ है 'पश्चात्', 'मान' का 'ज्ञान' ।

५. हेतु की पक्ष में विद्यमानता पक्ष-धर्म कहलाती है ।

६. इसे व्याप्ति कहते हैं ।

७. प्रमाणों के आपेक्षिक बलावल पर विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों के विभिन्न मत थे और हैं । चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते थे, मीमांसक अनुमान को कनिष्ठ मानते थे ।

प्रमाण है[8] ।

सूत्र ४

उनमें प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ़ और अभ्रान्त :समझना चाहिए: ।

टिप्पणी

न्याय सूत्रों में प्रत्यक्ष का लक्षण था : इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न, अव्यभिचारी, अव्यपदेश्य एवं व्यवसायात्मक ज्ञान । दिङ्नाग ने इस लक्षण का खण्डन कर नया लक्षण प्रस्तुत किया । उपर्युक्त गौतमीय लक्षण में पहला विशेषण केवल ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष तक सीमित होने के कारण अव्याप्ति से ग्रसित है, दूसरा प्रत्यक्ष की प्रमाणता के कारण ही अनावश्यक है, एवं चौथा विकल्पात्मक ज्ञान में अति व्याप्ति को जन्म देता है । इसलिए दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष को केवल कल्पनापोढ़ता से लक्षित किया । उद्योतकर ने इस लक्षण की भ्रान्ति में अतिव्याप्ति प्रदर्शित की । उत्तर में धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद का अधिक निवेश कर उसका परिष्कार किया ।

धर्मोत्तर

'उनमें' प्रत्यक्ष और अनुमान का सामुदायिक निर्देश है । 'प्रत्यक्ष' इस समुदाय के एकदेश का निर्देश है । समुदाय के एकदेश का प्रत्यक्षत्व-जाति के द्वारा अलग करना निर्धारण है ।

यहां 'प्रत्यक्ष' पद से उसके प्रसिद्ध अर्थ का उद्देश्य के रूप में 'अनुवाद'[9] कर उसमें विधेय के रूप में कल्पनापोढ़त्व और अभ्रान्तत्व का विधान[10] किया गया है । अर्थ यह हुआ कि आपके लिए और हमारे लिए विषयों का जो वह साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष-स्वरूपतया प्रसिद्ध है उसकी विशेषता यह बताई जा रही है कि वह कल्पना और भ्रान्ति से अछूता है[11] ।

---

८. 'अनुमान का अर्थ-सम्बन्ध परम्परया समझना चाहिये । किन्तु इससे प्रामाण्य को लाने वाली विषय-प्रापकता में कोई अन्तर नहीं होता । प्रत्यक्ष भी विकल्प-निश्चित सन्तान को पहुंचाता हुआ ही प्रमाण होता है' —:दुर्वेक:

९. 'पूर्व-प्रसिद्ध का शब्द से अभिधान अनुवाद है' । :दुर्वेक:

१०. 'शब्द से अज्ञात का ज्ञापन विधान है' ।

११. एक 'व्याख्या के अनुसार' 'प्रत्यक्ष, यह संज्ञा है, कल्पनापोढ़त्वादि संज्ञी है' इसलिए सूत्र संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध प्रतिपादित करता है । यह विरुद्ध मत के निराकरण के प्रसंग में अप्रासगिक है । दूसरी व्याख्या के अनुसार 'अन्यत्र प्रसिद्ध कल्पनापोढ़त्व और अभ्रान्तत्व का अनुवाद कर

यह शंका नहीं करनी चाहिये कि यदि कल्पनापोढ़ता और अभ्रान्तता अप्रसिद्ध हैं तो प्रत्यक्ष-ज्ञान का अन्य क्या रूप शेष रहेगा जो 'प्रत्यक्ष' शब्द का वाच्य हो और जिसका यहां अनुवाद किया जाय। क्योंकि इन्द्रियों के साथ अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सम्बद्ध विषयों का साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष शब्द का सबके लिए प्रसिद्ध वाच्य है। उसका अनुवाद करके, अर्थात् उसे उद्देश्य के रूप में प्रस्तुत करके, कल्पनापोढ़ और अभ्रान्त विशेषणों को उसका विधेय बनाया गया है।

'कल्पना से अपोढ़ अर्थात् अपेत', यह कल्पनापोढ़ का अर्थ है, अर्थात् कल्पना-स्वभाव से रहित। अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु के स्वरूप के अविपरीत ज्ञान को अभ्रांत कहते हैं।[12] अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु-रूप संस्थान-विशिष्ट वर्णात्मक होता है। उसमें जो भ्रांत नहीं होता वह अभ्रान्त ज्ञान है।

ये दोनों लक्षण विरुद्ध मत के निरास के लिए हैं, अनुमान की निवृत्ति के लिये नहीं, क्योंकि कल्पनापोढ़ के ग्रहण से ही अनुमान निवर्तित है।[13] किन्तु

सूत्र प्रत्यक्षत्व का विधान करता है'। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब लक्ष्य और लक्षण का सम्बन्ध प्रसिद्ध हो तब लक्षण का अनुवाद किया जाता है और लक्ष्य का विधान, किन्तु उस सम्बन्ध के अप्रसिद्ध होने पर लक्षण-वाक्य से लक्षण का ही विधान होता है, लक्ष्य का नहीं, यह न्याय है। (दुर्वेक)

१२. यहां दृश्य वस्तु उदाहरण के रूप में प्रस्तुत है। दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' का सन्निवेश नहीं किया था क्योंकि उन्होंने भ्रम को कल्पना-प्रसूत माना है और इसलिये प्रत्यक्षाभास को कल्पना-प्रवृत्त कहा है। न्याय-सूत्रों में प्रत्यक्ष के लिये दिये हुए 'अव्यभिचारी' विशेषण पर भी उन्होंने आपत्ति की है और अनुमान को विभ्रमयुक्त होने पर भी संवाद होने से प्रमाण माना है। उनके मत से निर्विकल्प ज्ञान सदा प्रमाण है, सविकल्प अविसंवादक होने पर सांव्यवहारिक प्रमाण एवं अन्यथा अप्रमाण है। दिङ्नाग का लक्षण मूलतः विज्ञानवादी है।

विनीतदेव के अनुसार धर्मकीर्ति में भी अभ्रान्तता का अर्थ अविसंवादकता ही अभिप्रेत है। इससे द्विचन्द्रादि ज्ञान प्रमाणकोटि से व्यवच्छिन्न होता है एवं योगाचार-मत का संग्रह होता है।

धर्मोत्तर केवल सौत्रान्तिक मत से व्याख्या करते हैं और भ्रान्ति को इन्द्रियज मानते हैं।

१३. अभ्रान्तता सवादि-भ्रम के निरास के लिये है।

अभ्रान्त के ग्रहण न करने पर 'चलते हुए वृक्ष' का दर्शन आदि भी प्रत्यक्ष माना जाएगा क्योंकि वह भी कल्पनापोढ़ है।[14] उस ज्ञान के आधार पर प्रवृत्त हुए व्यक्ति को वृक्ष-मात्र की प्राप्ति होती है इसलिये वह ज्ञान संवादक होने के कारण सम्यक् ज्ञान है और कल्पनापोढ़ होने के कारण प्रत्यक्ष है, यह आशंका हो सकती थी। उसकी निवृत्ति के लिए अभ्रान्त का ग्रहण किया गया क्योंकि वह 'चलते हुए वृक्ष का दर्शन आदि' भ्रान्त होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं है और त्रिरूप हेतु से उत्पन्न न होने के कारण अनुमान भी नहीं है और न कोई अन्य प्रमाण। इसलिये 'चलते हुए वृक्ष' का दर्शन आदि मिथ्या ज्ञान है, यह निश्चित होता है।

यदि :तट के पीछे खिसकते वृक्षों का दर्शनः मिथ्या ज्ञान है तो उससे वृक्ष-प्राप्ति कैसे होती है ?

उससे नहीं होती है। उस ज्ञान ने जिस वृक्ष का अवधारण किया था वह नाना-देशगामी था, जो वृक्ष प्राप्त होता है वह एक स्थान पर स्थिर है। उस ज्ञान से जंगम वृक्ष जिस स्थान पर देखा गया था उस स्थान पर प्राप्त नहीं होता। जिस स्थान पर प्राप्त होता है, उस स्थान पर देखा नहीं गया था। इसलिए उस ज्ञान से कोई वस्तु प्राप्त नहीं होती।[15] दूसरे ही ज्ञान से वृक्षादि वस्तु की प्राप्ति होती है। इसलिये 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण विप्रतिपत्ति के निरास के लिये है।

इसी प्रकार 'अभ्रान्त' के ग्रहण से अनुमान के निर्वर्तित होने पर 'कल्पनापोढ़' का ग्रहण विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिये है।[16] क्योंकि अनुमान अपने अवस्तुभूत प्रतिभास में वस्तु के निश्चय को आरोपित करके प्रवृत्त होने के कारण भ्रान्त होता है। दूसरी ओर प्रत्यक्ष अपने ग्राह्य रूप में विपर्यस्त नहीं होता।

और न अभ्रान्त को अविसंवादक के अर्थ में लेना चाहिये।[17] क्योंकि सम्यग्ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है, असम्यग्ज्ञान नहीं ! ऐसे 'सम्यग्ज्ञान' से ही अविसंवादकता प्राप्त हो जाती है और फिर दुबारा 'सम्यग्ज्ञान' का शब्दान्तर से ग्रहण व्यर्थ होगा। इस प्रकार तो वाक्यार्थ होगा—प्रत्यक्ष नाम का जो अविसंवादक ज्ञान है वह कल्पनापोढ़ और अविसंवादक है। 'अविसंवादक' की इस

१४. दिङ्नागीय लक्षण मूलतः प्रत्यक्ष को अनुमान से पृथक् करता है।

१५. यह संवादि-भ्रम के सिद्धान्त का ही खण्डन है।

१६. 'कल्पनापोढ़' सविकल्पना प्रत्यक्ष की निवृत्ति के लिए है।

१७. जैसाकि विनीतदेव ने विज्ञानवादी आग्रह से लिया है।

पुनरुक्ति से कुछ लाभ नहीं है। इसलिये ग्रहण के विषय, अर्थक्रियासमर्थ वस्तु-रूप में जो अविपर्यस्त है उसे, अभ्रान्त समझना चाहिये।

किस प्रकार की कल्पना का यहां ग्रहण किया गया है?

इसके उत्तर में कहते हैं:—सूत्र—जिस प्रतीति में प्रतिभास शब्द संसर्ग के योग्य हो, वह कल्पना है। (सूत्र ५) अर्थात् वह ज्ञान जिसमें आकृति शब्द-वाच्य हो, कल्पना है।

धर्मोत्तर

अभिलाप का अर्थ है अभिलाप का साधन, वाचक शब्द।[18] अभिलाप-संसर्ग का अर्थ है अभिलाप के साथ संसर्ग। अर्थात् वाच्य के आकार का वाचक के आकार के साथ एक ही ज्ञान में ग्राह्य आकार के रूप में मिलना। इससे जब एक ही ज्ञान में वाच्य और वाचक के आकार के साथ निविष्ट होते हैं तब वाच्य और वाचक का संसर्ग होता है। जिस प्रतीति में अभिलाप-संसर्ग के योग्य वाच्याकार प्रतिभासित होता है वही कल्पना है।

कुछ प्रतीतियों में शब्द-संसृष्ट आभास होता है, जैसे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानने वाले व्यक्ति के लिए घट रूपी अर्थ की कल्पना में अर्थ का अवभास। कुछ प्रतीतियां शब्द से संसृष्ट न होने पर भी शब्द-संसर्ग के योग्य अवभास वाली होती हैं, जैसे अभी भाषानभिज्ञ बालक की कल्पना। यदि कल्पना का लक्षण केवल शब्द से संसृष्ट अवभास बतलाया जाता तो अनभिज्ञ बालक की कल्पना उसमें संगृहीत न होती। 'योग्य'-पद के सन्निवेश से उसका भी अब ग्रहण किया जा सकता है। यद्यपि नवजात शिशु की कल्पना अपने आभासित अर्थों को शब्द से युक्त नहीं करती तथापि उसमें आभासित अर्थ शब्द से युक्त अवश्य ही किये जा सकते हैं। जिसमें शब्द जोड़े गये हैं उसमें शब्द-संसर्ग की योग्यता सिद्ध ही है। इस प्रकार दोनों का ही योग्य पद से संग्रह हो जाता है।

यदि यह शंका की जाय कि शब्द के जुड़े न रहने पर किस तरह से उसके जुड़ने की योग्यता निश्चित की जा सकती है: तो उत्तर है: इस प्रकार के ज्ञान में अर्थ प्रतिभास अनियत रूप से होता है जिससे कि प्रतिभास के नियम के कारण का अभाव सूचित है। यदि ग्राह्य विषय ज्ञान को उत्पन्न करे तो उसमें प्रतिभास नियत होगा जैसे रूप चक्षुर्विज्ञान को उत्पन्न करता हुआ नियत-

१८. विनीतदेव की व्याख्या में अभिलाप का अर्थ है सामान्य आदि वाच्य जोकि दिङ्नाग की 'जात्यादि-योजना' के अनुसार है। धर्मोत्तर का वाचक परक अर्थ कल्पना को 'नाम-योजना' बनाता है।

प्रतिभास वाला ही उत्पन्न करता है। किन्तु विकल्पात्मक विज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता, इस कारण प्रतिभास का कोई नियामक न होने से प्रतिभास अनियत होता है। यह विकल्प अर्थ से क्यों उत्पन्न नहीं होता ? इसलिये कि वह अर्थ की उपस्थिति की अपेक्षा नहीं करता। बालक भी जबतक सम्मुख दृश्यमान स्तन को, यह 'वही है' इस प्रकार पहले देखे हुये के रूप में नहीं पहचानता तबतक रोना बन्द करके स्तन में मुख अर्पित नहीं करता। पहले देखे और पीछे देखे अर्थ को एक बनाते हुए ज्ञान का विषय अनुपस्थित होता है, क्योंकि पहले देखा हुआ स्पष्ट ही अनुपस्थित है। जिस ज्ञान का विषय अनुपस्थित है वह वस्तु-निरपेक्ष होगा। इस प्रकार के निरपेक्ष ज्ञान में आभास का नियामक न होने से ऐसा ज्ञान अनियत प्रतिभास वाला होगा, वैसा ही शब्द-संसर्ग के योग्य है।

इन्द्रियाश्रित प्रत्यक्ष ज्ञान केवल विद्यमान अर्थ का ग्राहक होने के कारण वस्तु-सापेक्ष होता है। वस्तु ही प्रतिभास को नियत करती है। इसीलिये प्रत्यक्ष ज्ञान नियत प्रतिभास वाला होता है और इसलिये वह शब्द-संसर्ग के योग्य नहीं होता।

इसीलिये (शब्द) स्वलक्षरण में वाच्य-वाचक-भाव स्वीकार करके भी उसके ग्राहक इन्द्रिय विज्ञान को अविकल्पक कहा जाता है। यद्यपि स्वलक्षरण ही वाच्य होगा और वही वाचक, ('शब्द' से शब्द वाच्य होगा) तथापि शब्द से संसृष्ट अर्थ वाला विज्ञान सविकल्पक होगा, किन्तु इन्द्रिय-विज्ञान निर्विकल्पक होगा क्योंकि उसमें प्रतिभासित आकार के वास्तविक अर्थ के द्वारा नियमित होने के कारण वह शब्दों के साथ जुड़ने के अयोग्य है।

:यह शंका हो सकती है: श्रोत्र-विज्ञान शब्द-स्वलक्षरण का ग्राहक होता है। शब्द-स्वलक्षरण कुछ वाच्य और कुछ वाचक होगा इसलिये श्रोत्र-विज्ञान में प्रतिभासित आकृति शब्द के साथ संसर्ग की योग्यता रखेगी और इस प्रकार से वह सविकल्पक हो जायेगा।

इसमें यह दोष नहीं है क्योंकि स्वलक्षरण के वाच्य-वाचक-भाव स्वीकृत होने पर भी संकेत-ग्रहरण के समय के रूप में गृहीत होने पर स्वलक्षरण वाच्य और वाचक के रूप में गृहीत होगा। (किन्तु) शब्द-प्रयोग के समय जो वस्तु विद्यमान है वह संकेत-ग्रहरण के समय की देखी हुई वस्तु नहीं है। संकेत ग्रहरण के समय का ज्ञान अब निरुद्ध हो चुका है, उसी प्रकार से उसकी विषयभूत वस्तु भी। इसलिये श्रोत्र-विज्ञान पहले जाने हुये विषय का इस समय साक्षात्कार न करते हुए वाच्य-वाचक-भाव का ग्राहक भी नहीं होता।

इसी युक्ति से योगियों का ज्ञान भी सब शब्दार्थों को अवभासित करते

हुये भी संकेत-ग्रहण के समय के शब्दार्थों का ग्रहण न करने के कारण निर्विकल्पक होता है।

सूत्र ६

उससे रहित ज्ञान प्रत्यक्ष है जिसमें तिमिर-रोग, आशु-भ्रमण, नौ-यान, संक्षोभ आदि से भ्रम का आधान नहीं किया गया है।

धर्मोत्तर

उससे, अर्थात् कल्पना से, कल्पनात्मक स्वभाव से रहित अथवा शून्य होते हुए जो ज्ञान भ्रान्ति-रहित है वह प्रत्यक्ष है। कल्पनापेत होना और अभ्रान्त होना– ये परस्पर-सापेक्ष हो कर प्रत्यक्ष के लक्षण बनते हैं, प्रत्येक अलग-अलग नहीं, यह दिखलाने के लिए इस प्रकार कहा गया है कि कल्पना-रहित जो अभ्रान्त ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। इससे यह प्रदर्शित होता है कि दोनों लक्षण परस्पर-सापेक्ष हो कर प्रत्यक्ष को अपना लक्ष्य बनाते हैं।

'तिमिर' का अर्थ है आंखों का रोग-विशेष। यह इन्द्रिय-गत भ्रान्ति का कारण है। आशु-भ्रम से अलात अर्थात् जलती हुई लकड़ी आदि का घुमाना अभिप्रेत है। जलती हुई लकड़ी के मन्द गति से घुमाने पर चक्र की भ्रान्ति नहीं उत्पन्न होती, इसलिये भ्रमण को आशु से विशेषित किया। यह भ्रम का विषयगत कारण है। नौ-यान से अर्थ है नाव का जाना। चलती हुई नाव में बैठे हुए को चलते हुए वृक्षों की भ्रान्ति होती है, इसलिये 'यान' शब्द का ग्रहण किया गया। यह भ्रम का बाह्य आश्रय में स्थित कारण है। संक्षोभ वात, पित्त और कफ का अभिप्रेत है। वात आदि के क्षुब्ध होने पर जलने की अथवा जड़ता आदि की भ्रान्ति उत्पन्न होती है। यह भ्रम का आन्तरिक आश्रयगत कारण है।

भ्रम के सब कारण, चाहे वे इन्द्रियगत हों अथवा विषयगत, बाह्य आश्रयगत हों अथवा आन्तरिक आश्रयगत, वे इन्द्रिय में ही विकार उत्पन्न करते हैं। इन्द्रियों में विकार न होने पर उनके प्रत्यक्ष में भ्रान्ति नहीं होती। संक्षोभ पर्यन्त कहे हुए करण इस प्रकार के कारणों में से कुछ हैं। 'आदि' पद के ग्रहण से अन्य इसी प्रकार के कारण लिए जा सकते हैं जैसे काच, कामला आदि आंख के रोग जोकि इन्द्रिय-गत हैं, सवेग लाना और ले जाना आदि जो विषयगत हैं—जलती लकड़ी के तेज़ी से लाने-ले जाने में दण्डाकार ज्वाला की भ्रान्ति होती है—हाथी की सवारी आदि में बाहरी आश्रय में स्थित भ्रान्ति के कारण होते हैं, गहरे मर्मप्रहार आदि आन्तरिक आश्रय में स्थित भ्रान्ति के हेतु होते हैं।

इन सबसे जिस ज्ञान में भ्रम नहीं डाला गया है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है ।

कुछ लोग इन्द्रियों को ही द्रष्टा मानते हैं :जैसे वैभाषिक:, कुछ अन्य मानस प्रत्यक्ष में दोष निकालते हैं[19] और स्वसंवेदन तथा योगि ज्ञान को नहीं स्वीकार करते हैं[20]। उनके विरुद्ध मतों के खण्डन के लिए इस प्रत्यक्ष के लक्षण को बतला कर अब उसके विभिन्न प्रकारों को बतलाते हैं ।

सूत्र ७

वह चतुर्विध है ।

सूत्र ८

इन्द्रिय ज्ञान :यह पहला प्रकार है: ।

धर्मोत्तर

इन्द्रियाश्रित ज्ञान प्रत्यक्ष है ।

मानस प्रत्यक्ष में दूसरों ने जो दोष निकाला है उसे हटाने के लिए मानस-प्रत्यक्ष का लक्षण बताते हैं ।

सूत्र ९

जिस इन्द्रिय-ज्ञान का उसके अपने विषय का अनन्तरवर्ती विषय सहकारी है, और जो स्वयं समनन्तर प्रत्यक्ष है उस इन्द्रिय ज्ञान से उत्पादित ज्ञान मनोविज्ञान है ।

धर्मोत्तर

अन्तर व्यवधान और विशेष को कहते हैं । इसलिये अनन्तर का अर्थ है अव्यवहित एवं समान जातीय । इन्द्रियज्ञान के विषय का समनन्तर विषय उसी का सजातीय दूसरा क्षण है । इस प्रकार जिस क्षण में विषय इन्द्रियज्ञान को उत्पन्न करता है उसके बाद वाले क्षण में वह उसी सन्तानगत रूप में लिया जाता है (:एक ओर ज्ञान की धारा है, दूसरी ओर विषय की । मानसिक प्रत्यक्ष के उत्पादन में इन्द्रिय में ज्ञान और विषय दोनों सहकारी होते हैं । किन्तु, इन्द्रिय ज्ञान जिस क्षण में उत्पन्न होता है उस क्षण में उसका सहकारी विषय इन्द्रिय-ज्ञान के जनक विषय की तुलना में उत्तरक्षणिक होता है । इस प्रकार यह सहकारी विषय इन्द्रियज्ञान के विषय का उसी धारा में उत्तराधिकारी होता है । इस उत्तरक्षणिक विषय से सहकृत इन्द्रियज्ञान मान-

---

१९. मीमांसक मानस-प्रत्यक्ष में गृहीत-ग्रहित्व अथवा अन्ध-बधिराद्यभाव आदि दोष बताते हैं ।

२०. कौमारिल और न्याय-वैशेषिक के अनुयायी स्वसंवेदन को नहीं मानते । चार्वाक और मीमांसक योगि-प्रत्यक्ष को अस्वीकार करते हैं ।

सिक प्रत्यक्ष का समनन्तर प्रत्यय बनता है: ।)

सहकारी दो प्रकार का होता है— परस्परोपकारी, एवं एक–कार्यकारी :जहां दो कारण एक-दूसरे के कार्य में सहायता पहुंचाते हैं वे **परस्परोपकारी** कहलाते हैं, जहां वे मिल कर एक ही कार्य करते हैं वे **एक-कार्यकारी** होते हैं: । यहां :हमारे सिद्धान्त में: वस्तु के क्षणिक होने के कारण उसमें अतिरिक्त विशेषता का जोड़ना सम्भव नहीं है । इसलिये सहकारी एक-कार्यकारी के रूप में लिया जाता है क्योंकि विषय और विज्ञान, दोनों के द्वारा एक ही मनो-विज्ञान उत्पन्न किया जाता है, इसलिये वे परस्पर सहकारी हैं ।

आलम्बन-प्रत्यय के रूप में भी इस प्रकार का इन्द्रिय-विज्ञान योगि-ज्ञान को उत्पन्न करता है । वहां मानस प्रत्यक्ष का लक्षण व्याप्त न हो, इसलिए यहां इन्द्रिय-विज्ञान को समनन्तर-प्रत्यय के ही रूप में लिया गया है । ज्ञान होने के कारण वह सम :–सजातीय: है, अव्यवहित होने के कारण अनन्तर, और हेतु होने के कारण प्रत्यय है । इस लक्षण के अनुसार 'मनोविज्ञान' प्रत्यक्ष तभी कहा जाता है जबकि उसी एक 'विज्ञान-सन्तान' के अन्दर इन्द्रिय-ज्ञान 'मनोविज्ञान' का जनक हो । इससे पर-'सन्तान'-गत 'योगि-ज्ञान' लक्षण का अविषय हो जाता है (एक व्यक्ति नीलाकाश देखता है, योगी उसके नील-प्रत्यक्ष का साक्षात्कार करता है । यहां 'योगिज्ञान' एक चित्त-धारा का अंग हैं, उसका 'आलम्बनभूत' "इन्द्रिय-विज्ञान"' दूसरी चित्त-धारा का अंग है ।)

'मनोविज्ञान' का विषय 'इन्द्रिय-ज्ञान' के विषय से भिन्न होने के कारण 'मनोविज्ञान' पर गृहीतग्राहिता के और उसके कारण अप्रामाण्य के दोष का आरोप खंडित हो जाता है ।

और क्योंकि इन्द्रिय-विज्ञान का विषय 'मनोविज्ञान' के द्वारा गृहीत विषय-क्षण का उपादान है, इसलिये यह आरोप निराधार हो जाता है कि इन्द्रिय-ज्ञान के द्वारा अगृहीत अन्य-विषय के मनोविज्ञान के द्वारा ग्रहण से कोई अन्धे, वहिरे आदि नहीं रह जाएंगे :इस प्रकार का ग्रहण होता ही नहीं ।: इन्द्रियों के अपना काम बन्द कर देने पर ही मानसिक ज्ञान प्रत्यक्ष माना जाता है । किन्तु, इन्द्रियों के काम करते रहने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अब इन्हीं के आश्रित होता है । वरना, किसी भी ज्ञान को इन्द्रिय-ज्ञान न माना जा सकेगा ।

यह मानस प्रत्यक्ष शास्त्र में इस प्रकार मिलता है, किन्तु इसे सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। इसका लक्षण इसलिये कहा गया है कि यदि

इस प्रकार का मानस प्रत्यक्ष हो तो कोई दोष नहीं होगा :अर्थात् मानस प्रत्यक्ष प्रमाण-विरुद्ध न होते हुए भी प्रमाणसिद्ध नहीं है: ।

सूत्र १०

सभी चित्त और चैत्तों में आत्म संवेदन होता है ।

धर्मोत्तर

चित्त वस्तुमात्र का ग्राहक होता है । चैत्त विशेष अवस्थाओं के ग्राहक होते हैं । सुख आदि चैत्त हैं । सुख आदि में अनुभव के स्फुट होने के कारण स्वसंवेदन असंदिग्ध है । अन्य चित्त की अवस्थाओं में भी स्वसंवेदन होता है । यह स्पष्ट करने के लिए 'सब' का यहां ग्रहण किया गया है । ऐसी कोई चित्त की अवस्था नहीं है जिसमें अपना संवेदन प्रत्यक्ष न होता हो । जिस रूप में अपना बोध होता है उसी रूप में आत्म-संवेदन प्रत्यक्ष होता है ।

रूप आदि वस्तु के दीखने पर उसी समय आन्तरिक सुखादि आकृति का संवेदन होता है । यह नहीं कहा जा सकता कि जिस नीलादि आकृति का ग्रहण हो रहा है, उसी का सुख रूप से अनुभव हो रहा है । "क्योंकि, नील रूप आदि का सुख रूप से अनुभव हो रहा है" ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता । यदि इस प्रकार का निश्चय हो कि 'यह नीलरूप ही सुख-रूप अनुभव हो रहा है' तो नील का सुखरूप होना सिद्ध होगा, क्योंकि जिस रूप का प्रत्यक्ष के द्वारा साक्षात्कार प्रत्यक्ष के पीछे उत्पन्न हुए निश्चयात्मक विकल्प से अनुगत होता है उसी रूप को प्रत्यक्षीकृत माना जा सकता है । नील वस्तु की सुखरूपता का उस प्रकार निश्चय नहीं होता । इसलिये नीला-नुभव के समय ही सुख का अनुभव नीलादि वस्तु से भिन्न ही होता है । वह सुख-ज्ञान ही है । इसलिये ज्ञान का अनुभव होता है और वह ज्ञानरूप का संवेदन अपने आपका साक्षात्कार करता है, वह विकल्पभिन्न होता है और भ्रान्तिरहित होता है । इसलिये वह प्रत्यक्ष है । योगि-प्रत्यक्ष की व्याख्या करने के लिए कहते हैं :

सूत्र ११

वास्तविक पदार्थ की भावना के प्रकर्ष की सीमा पर उत्पन्न योगि-ज्ञान भी प्रत्यक्ष है ।

धर्मोत्तर

'वास्तविक' का अर्थ है प्रामाणिक, जैसेकि चार आर्य-सत्य । भावना का अर्थ है बार-बार मन में निविष्ट करना । भावना का प्रकर्ष तब माना जाता है जबकि भावना के विषय को आभासित करते हुए ज्ञान का प्रकाश

स्पष्ट होने लगता है। प्रकर्ष की सीमा वहां प्राप्त होती है जहां यह प्रकाश की स्पष्टता सम्पूर्ण होने से कुछ ही कम रहती है, क्योंकि जबतक प्रकाश की स्पष्टता अपरिपूर्ण रहती है तबतक प्रकर्ष की ओर उसकी गति बनी रहती है। पूर्ण होने पर गति बन्द हो जाती है। उस परिपूर्णावस्था के ठीक पहले की अवस्था प्रकाश की स्पष्टता के प्रकर्ष की सीमा कही जाती है। उस सीमा से उत्पन्न हुआ ज्ञान जोकि भाव्यमान वस्तु के आकार का इस प्रकार ग्रहण करता है मानो वह सम्मुख उपस्थित हो, योगी का प्रत्यक्ष है।

ज्ञानालोक की स्पष्टता के आरम्भ की अवस्था भावना का प्रकर्ष है। जिस समय भाव्यमान वस्तु 'अभ्रक-व्यवहित' की तरह दिखती है, वह प्रकर्ष की पर्यन्तावस्था है। भाव्यमान वस्तु का जो करतलामलक की भांति दर्शन है वह योगी का प्रत्यक्ष है। क्योंकि वह स्फुटाभ है।

स्फुटाभ होने के कारण ही वह निर्विकल्प है। विकल्प-ज्ञान वस्तु को संकेत के समय के देखे हुए रूप में ग्रहण करता हुआ शब्द संसर्ग के योग्य ग्रहण करता है। संकेत के समय में देखा हुआ रूप संकेत के समय उत्पन्न ज्ञान का विषय होता है। जैसे पिछला ज्ञान नष्ट होने के कारण अब अभावग्रस्त है उसी प्रकार उसके द्वारा गृहीत वस्तु का रूप भी अब नष्ट हुआ है। इसलिये विकल्प-ज्ञान वस्तु के अभावग्रस्त रूप को पकड़ता हुआ अविद्यमान वस्तु को अपना विषय बनाता है और इसलिये अस्फुट होता है। इसलिये स्पष्ट आभा वाला ज्ञान निर्विकल्पक है।

प्रमाण से शोधित वस्तु के ग्रहण करने के कारण वह ज्ञान अविसंवादक है। इसलिये प्रत्यक्ष है, जैसेकि अन्य प्रत्यक्ष।

योग समाधि को कहते हैं। उससे युक्त योगी कहलाता है। उसका ज्ञान योगि-प्रत्यक्ष है। यही चार प्रत्यक्ष के प्रकार हैं।

इस प्रकार कल्पना-भिन्न और भ्रान्तिरहित प्रत्यक्ष के भिन्न प्रकारों को प्रतिपादित कर प्रत्यक्ष के विषय के सम्बन्ध में मतभेद को दूर करते हैं।

सूत्र १२

उसका विषय स्वलक्षण है।

धर्मोत्तर

उस चतुर्विध प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण समझना चाहिये। किसी विषय का निजी स्वरूप या असाधारण तत्व **स्वलक्षण** कहलाता है। क्योंकि वस्तु का असाधारण तत्व भी होता है और सामान्य तत्व भी होता है। उसमें जो असाधारण तत्व है वह प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय है।

प्रमाण का विषय दो प्रकार का होता है— **ग्राह्य** और **प्राप्य**। ग्राह्य विषय वह है जिसके **प्रतिभास** अथवा **आकृति** के साथ ज्ञान उत्पन्न होता है[२१]। प्राप्य विषय वह है जिसका **अध्यवसाय** :–निश्चयः होता है[२२]। ग्राह्यः–ग्रहण का विषय : अन्य है, अध्यवसेय :–निश्चयात्मक ज्ञान का विषयः अन्य है। प्रत्यक्ष-ग्राह्य अद्वितीय क्षण होता है किन्तु प्रत्यक्ष के बल से उत्पन्न निश्चय के द्वारा उसका अध्यवसेय सन्तान[२३] ही होता है। सन्तान ही प्रत्यक्ष का प्रापणीय विषय है, क्योंकि क्षण को प्राप्त नहीं कराया जा सकता।

ऐसे ही अनुमान भी अपने अवस्तुक प्रतिभास में वस्तु-निश्चय से प्रवृत्त होने के कारण अवास्तविक विषय का ग्रहण करता है। वह ग्रहण का आरोपित विषय स्वलक्षण मान कर निश्चित किया जाता है और इस प्रकार का विकल्पित स्वलक्षण अनुमान का प्रवृत्ति-विषय है। किन्तु अनुमान का ग्राह्य अवास्तविक है। इसलिए यहां पर प्रमाण के ग्राह्य विषय को प्रदर्शित करते हुए प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण कहा गया है।

टिप्पणी

(अनुमान का ग्राह्य काल्पनिक है, प्राप्य या प्रवृत्ति-विषय अपेक्षया वास्तविक। प्रत्यक्ष का ग्राह्य वास्तविक है किन्तु प्राप्य अपेक्षया काल्पनिक।

प्रत्यक्ष	अनुमान
ग्राह्य विषय = वस्तु-प्रतिभास	ग्राह्य विषय = वस्तु-विकल्प
= क्षण = स्वलक्षण	= सामान्य-लक्षण
प्राप्य-विषय = सन्तान	प्राप्य विषय = सन्तान

सन्तान स्वलक्षण की अपेक्षा काल्पनिक है किन्तु सामान्य-लक्षण की अपेक्षा वास्तविक।)

ज्ञान का विषय क्या है, जिसे स्वलक्षण समझना चाहिये ? इस पर कहते हैं–

सूत्र १३

जिस अर्थ की सन्निधि और असन्निधि से ज्ञान का प्रतिभास भिन्न हो जाता है, वह स्वलक्षण है।

धर्मोत्तर

'अर्थ' ज्ञान के विषय का पर्याय है। सन्निधि का अर्थ है निकट देश में

---

२१. 'ग्राह्य विषय भी दो प्रकार का है—वास्तविक और आरोपित' :दुर्वेक।

२२. 'ज्ञान से जिसमें प्रवृत्ति होती है' :दुर्वेक।

२३. – क्षणानुपूर्वी, क्षण-प्रवाह।

अवस्थिति। असन्निधि का अर्थ है दूर देश में अवस्थिति। विषय के पास या दूर होने से ज्ञान के प्रतिभास में, अर्थात् ग्राह्य आकृति में, स्फुटता और अस्फुटता के कारण भेद हो जाता है। जो ज्ञान का विषय निकट होने पर ज्ञान के आभास को स्पष्ट करता है और ग्रहण-योग्य स्थान में रहते हुए भी दूर हो जाने पर ज्ञानाभास को अस्पष्ट करता है, वह स्वलक्षण है। क्योंकि सभी वस्तुएं दूर से अस्फुट दीखती हैं, पास से स्फुट। वे ही स्वलक्षण हैं।[24]

स्वलक्षण प्रत्यक्ष का ही विषय क्यों है, जबकि विकल्प का विषय होते हुए भी आग दृश्यात्मक ही निश्चित की जाती है?

इस पर कहते हैं–

सूत्र १४

वही परमार्थ-सत् है।

धर्मोत्तर

परम अर्थ कहते हैं अकृत्रिम, अनारोपित रूप को। उस रूप से विद्यमान परमार्थ-सत् कहा जाता है। जो विषय पास और दूर से प्रतिभास को स्फुट और अस्फुट करता है वही पारमार्थिक रूप से सत् है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष का विषय है इसलिए वह स्वलक्षण है।

वही परमार्थ-सत् क्यों है?

इस पर कहते हैं–

सूत्र १५

क्योंकि अर्थ-क्रिया का सामर्थ्य वस्तु का लक्षण है।

यहां अर्थ प्रवृत्ति का विषय है जो हेय अथवा उपादेय होता है। छोड़ने की इच्छा का विषय हेय, एवं लेने की इच्छा का विषय उपादेय है। अर्थ अथवा प्रयोजन

---

२४. यहां पर विचारणीय है "यदि वही स्वलक्षण है जिसकी सन्निधि और असन्निधि से ग्राह्य प्रकृति स्फुट और अस्फुट होती है, तो स्पर्श और रस स्वलक्षण नहीं होंगे, क्योंकि वे असन्निहित होने पर ज्ञान ही उत्पन्न नहीं करते हैं, उसके प्रतिभास की स्फुटता अथवा अस्फुटता में भेद क्या करेंगे? और फिर स्वलक्षण का यह लक्षण करने पर विज्ञान ही स्वलक्षणरहित हो जायगा। क्योंकि असन्निहित होने पर अस्फुट ज्ञान को उत्पन्न करना तो दूर, वह सर्वज्ञान सन्निहित होने पर भी (अपना) स्फुटज्ञान उत्पन्न नहीं करता। और देशातीत होने के कारण वह निकट या दूर नहीं होता।" –दुर्वेक। लक्षण की इस प्रण्योप्ति को प्रदर्शित कर दुर्वेक का समाधान है = यहां तात्पर्य केवल स्वलक्षण की असाधारणता से है।

की निष्पत्ति अर्थक्रिया है। उसमें समर्थता अथवा शक्ति ही जिसका लक्षण अथवा रूप है, वह वस्तु अर्थक्रिया-सामर्थ्यलक्षण है। 'वस्तु' शब्द 'परमार्थ' का पर्याय है। इसलिए अर्थ यह हुआ—जो अर्थ-क्रिया में समर्थ है वह वस्तुसत् है, ज्ञान-प्रतिभास को अपनी सन्निधि और असन्निधि से भिन्न करने वाली वस्तु अर्थ-क्रिया में समर्थ है, इसलिए वह वस्तुसत् है। और वही वस्तुसत् है क्योंकि उस प्रत्यक्ष के विषय से ही प्रयोजन-सिद्धि होती है, विकल्प के विषय से नहीं। अतएव यद्यपि विकल्प का विषय दृश्यवत् अध्यवसित होता है तथापि वह दृश्य नहीं है, क्योंकि उससे प्रयोजन-सिद्धि नहीं होती जबकि दृश्य वस्तु से होती है। इसलिए वह दृश्य या प्रत्यक्ष वस्तु ही स्वलक्षण है, विकल्प की विषयभूत वस्तु नहीं।

सूत्र १६

अन्य सामान्य लक्षण है।

धर्मोत्तर

'अन्य' का अर्थ है स्वलक्षण से अन्य। अर्थात् जो ज्ञान का विषय स्वलक्षण नहीं है, वह सामान्य-लक्षण है। क्योंकि विकल्प-ज्ञान के द्वारा निश्चित वस्तु अपनी सन्निधि और असन्निधि से ज्ञान-प्रतिभास को भिन्न नहीं करती। उदाहरण के लिए आरोपित अग्नि आरोप से ही अस्तित्व लाभ करती है। और आरोप से दूरवर्ती अथवा निकटवर्ती, दोनों ही हो सकती है। उस आरोपित अग्नि की दूरता अथवा निकटता से ज्ञान-प्रतिभास की स्फुटता अथवा अस्फुटता में कोई भेद नहीं होता, अतएव स्वलक्षण से अन्य कही जाती है। सामान्य लक्षण का अर्थ है सामान्यतः लक्षण अर्थात् साधारण रूप। समारोपित रूप सब अग्नियों में समान है, अतएव वह सामान्य-लक्षण है। उसको अनुमान का ग्राह्य विषय प्रदर्शित करने के लिए कहते हैं—

सूत्र १७

वह अनुमान का विषय है।

धर्मोत्तर

'विषय' शब्द से ग्राह्य रूप अभिप्रेत है। सामान्य लक्षण की अनुमान के विषय के रूप में व्याख्या करने के लिए स्वलक्षण के स्वरूप की यह व्याख्या फिर से दुहरानी पड़ेगी, इसलिए प्रत्यक्ष परिच्छेद ही में अनुमान का विषय संक्षेप के लिए कह दिया गया है।

प्रमाण के विषय के संबंध में विप्रतिपत्ति दूर कर जब उसके फल के सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए कहते हैं—

सूत्र १८

वही प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण-फल है।

सूत्र १९

क्योंकि वह अर्थ-प्रतीति-रूप है।

धर्मोत्तर

कहा यह जा रहा है—प्रापक ज्ञान प्रमाण होता है। ज्ञान में प्रापण-शक्ति वस्तु के साथ उसके अविनाभाव-सम्बन्ध मात्र से नहीं आती है। क्योंकि बीज आदि के बिना न होने वाले अंकुर आदि प्रापण-शक्ति नहीं पाते हैं। इसलिए प्राप्य वस्तु से उत्पन्न होने पर भी ज्ञान के लिए कोई एक प्रापक-व्यापार अवश्य करना रहता है जिसके पूरा करने पर वस्तु ज्ञान के द्वारा प्रापित होती है। वही व्यापार प्रमाण-फल है जिसके अनुष्ठान से ज्ञान प्रापक होता है। ऊपर कहा भी जा चुका है कि 'प्रवृत्ति के विषय का प्रदर्शन ही प्रापक का प्रापक-व्यापार है।' 'वही प्रत्यक्ष ज्ञान दो रूपों में होता है—विषय-प्रदर्शन के रूप में और विषय प्रतीति के रूप में। अतएव प्रत्यक्ष-ज्ञान रूप प्रमाण का फल भी प्रत्यक्ष-ज्ञान ही होता है।

यदि ज्ञान ही प्रमिति-रूप होने के कारण प्रमाण-फल है तो प्रमाण क्या है?

सूत्र २०

:ज्ञान का अर्थ—सारूप्य प्रमाण है।

ज्ञान के विषय के साथ सादृश्य प्रमाण है। जिस विषय में विज्ञान उत्पन्न होता है उस विषय के समान होता है। जैसे नील से उत्पन्न होने वाला विज्ञान नील सदृश्य होता है। सारूप्य ही को सादृश्य, आकार, अथवा आभास कहते हैं।

यहां शंका हो सकती है कि सादृश्य ज्ञान से अव्यतिरिक्त है। ऐसा होने पर वही ज्ञान प्रमाण होता है, वही प्रमाण-फल। किन्तु एक ही वस्तु साध्य और साधन दोनों नहीं हो सकती। तो फिर सारूप्य प्रमाण कैसे हो सकता है?

सूत्र २१

सारूप्य के सामर्थ्य से विषय की प्रतीति सिद्ध होती है। इसलिए सारूप्य प्रमाण है।

विषय की अधिगति के रूप में प्रत्यक्ष-ज्ञान सारूप्य के कारण सम्पन्न होता है। क्योंकि विज्ञान में नील का निर्भास होता है, इसलिए नील की

अधिगति का निश्चय होता है। (आलम्बन के अतिरिक्त) जिन आंख आदि प्रत्ययों से विज्ञान उत्पन्न होता है उनके कारण वह ज्ञान नील के संवेदन के रूप में व्यवस्थापित नहीं किया जा सकता। नील के सदृश अनुभूत होता हुआ ज्ञान नील का संवेदन व्यवस्थापित होता है।

यहां पर उत्पाद्य और उत्पादक के सम्बन्ध पर आश्रित साध्य और साधन का सम्बन्ध नहीं है जिससे एक वस्तु में दो का होना विरोध माना जाए। यहां पर तो व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक का सम्बन्ध है। इस तरह से उसी वस्तु में एक रूप प्रमाण है, दूसरा प्रमाण-फल, इसमें कुछ विरोध नहीं है। क्योंकि उस ज्ञान का व्यवस्थापन-हेतु सारूप्य है, व्यवस्थाप्य है नील-संवेदन-रूप।

वही एक ज्ञान व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक कैसे होगा ?

विज्ञान के नील-सदृश्य अनुभूत होने के कारण निश्चयात्मक प्रत्यय से यह व्यवस्थित होता है कि वह विज्ञान नील का ग्राहक है। अनुभूत सारूप्य व्यवस्थापन का हेतु है। निश्चयात्मक प्रतीति के द्वारा वह ज्ञान नील का संवेदन ठहराया जाता हुआ व्यवस्थाप्य है। :अनुभूति होती है नीलाकृति की जो विज्ञान में प्रतिबिम्बित होती है, निश्चय होता है 'यह नील है'। अनुभूत वास्तव में होता है सादृश्य = वस्तु की विज्ञानात्मक समानाकारता। किन्तु इसी अर्थ-सारूप्य से यह निश्चय होता है कि तथाकार वस्तु का संवेदन हुआ। इसलिए असारूप्य की व्यावृत्ति के द्वारा सारूप्य ज्ञान के व्यवस्थापन का हेतु है। नील-भिन्न विषय के बोध की व्यावृत्ति के द्वारा नील-बोधरूपता व्यवस्थाप्य है।

व्यवस्थापक समझना चाहिए प्रत्यक्ष की शक्ति से उत्पन्न विकल्प-ज्ञान को। निर्विकल्पक होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान स्वयं अपने-आपको नील-विषयक विज्ञान के रूप में व्यवस्थित नहीं कर सकता। निश्चयात्मक ज्ञान से व्यवस्थापित न होने पर नील-बोध-रूप विज्ञान वास्तविक होते हुए भी अवास्तविक-सा लगता है। इसलिए निश्चय के द्वारा नील-बोध-रूप व्यवस्थापित विज्ञान नील-बोधात्मक रूप में वास्तविक बनता है।

इसलिए निश्चय उत्पन्न करते हुए भी प्रत्यक्ष प्रमाण बनता है। निश्चय न उत्पन्न करने पर नील के बोध के रूप में विज्ञान अव्यवस्थापित रहता है और वैसी अवस्था मे अर्थाधिगति के रूप में प्रमाण-फल निष्पन्न नहीं होता। अतः साधकतम न होने के कारण ज्ञान-प्रमाण ही नहीं होगा।

प्रत्यक्ष-जनित निश्चय के द्वारा सारूप्य के आधार पर 'यह नील का

ही ज्ञान है' इस रूप में ज्ञान के व्यवस्थापित होने पर सारूप्य व्यवस्थापन का हेतुः = निमितः होने के कारण प्रमाण सिद्ध होता है ।

यदि ऐसा है तो फिर निश्चय के साथ ही प्रत्यक्ष प्रमाण होगा, केवल प्रत्यक्ष नहीं ।

ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष के बल से उत्पन्न निश्चय वस्तु को दृश्य के रूप में अवधारित करता है, नकि उत्प्रेक्षित के रूप में । दर्शन विषय-साक्षात्कार नाम का प्रत्यक्ष-व्यापार है । उत्प्रेक्षण विकल्प का व्यापार है, इसीलिए प्रत्यक्ष विषय को विकल्पित होते हुए हम कहते हैं 'यह हमारा ख्याल है, अनुभव नहीं' । इसीलिए अनुभव से विकल्प-व्यापार उत्प्रेक्षात्मक निश्चित होता है । अतएव जिस विषय में विकल्पात्मक निश्चय प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी होकर अपने व्यापार को तिरस्कृत कर प्रत्यक्ष के व्यापार को आदर्शित करता है, उस विषय में केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है ।

टिप्पणी—

(स्वप्रकाश नील-समानाकृति विज्ञान के अनुसार यह विकल्पात्मक निश्चय होता है 'मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूं कि यह नील ही है' । इसमें पहला निर्विकल्पक, दूसरा सविकल्पक प्रत्यक्ष है । पहला प्रमाण, दूसरा प्रमाण-फल । पहले में प्रकट सारूप्य के आधार पर दूसरा प्रत्यक्ष को विषय-ग्राहक के रूप में निर्धारित करता है । पहले के कार्य की सिद्धि दूसरे की अपेक्षा रखती है किन्तु दूसरा अपने स्वरूप को छिपाते हुए पहले के कार्य को पुष्ट करता है । इसलिए प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी विकल्प प्रत्यक्ष के व्यवस्थापक के रूप में उसका पूरक है, किन्तु प्रमाण के रूप में प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है और उसका स्वरूप है साक्षात्कार । इस उपरोक्त उपलब्धि में प्रतिभास प्रमाण है, और वस्तु-निश्चय प्रमाण-फल । सादृश्य व्यवस्थापन-हेतु है, प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी विकल्प व्यवस्थापक, और प्रत्यक्ष विज्ञान व्यवस्थाप्य । :)

स्वार्थानुमान परिच्छेद का विषय प्रवेश

अनुमान का स्वरूप

अनुमान के दो भेद हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है, परार्थानुमान शब्दात्मक। त्रिरूप हेतु से उत्पन्न अनुमेय-विषयक ज्ञान स्वार्थानुमान है। प्रत्यक्ष के समान अनुमान में भी सारूप्य प्रमाण है, विकल्प प्रमाणफल। यहां सारूप्य अस्पष्ट एवं अन्य व्यावृत्तिरूप है। हेतु भी उत्पादक स्वसत्तया न होकर स्वनिश्चयेन है। अनुमेय धर्म और धर्मी का समुदाय है। व्याप्ति-निश्चय में धर्म अथवा साध्य अनुमेय होता है, हेतु-निश्चय में धर्मी या पक्ष, साध्य-निश्चय में धर्म-धर्मी-समुदाय अनुमान का विषय होता है।

हेतु के रूप और प्रकार

हेतु के तीन रूप हैं—हेतु की **पक्षधर्मता, अन्वय और व्यतिरेक।** हेतु का पक्ष में अस्तित्व पक्ष-धर्मता है, सपक्ष में ही अस्तित्व अन्वय है, विपक्ष में अनस्तित्व ही व्यतिरेक है। **हेतुबिन्दु** में धर्मकीर्ति का कथन है कि इन तीन रूपों में **अविनाभाव** नियत है, इनके बाहर नहीं हो सकता। अन्वय और व्यतिरेक वस्तुतः समानार्थक हैं, उनका समुच्चय उनकी नियमवत्ता पर ज़ोर देता है। साध्य-युक्त स्थल में ही हेतु रहता है=साध्य-रहित स्थल में हेतु नहीं रहता। यदि किसी अधिकरण में हेतु है तो वहां साध्य अवश्य होगा, यदि कहीं साध्य नहीं है तो वहां हेतु भी नहीं होगा। हेतु साध्य = साध्याभाव हेत्वभाव।

साध्य-धर्म के समान धर्मवाला धर्मी **सपक्ष** है। जो सपक्ष नहीं है वह **असपक्ष** या **विपक्ष** है। 'न होने' के तीन अर्थ हैं—अन्य होना, विरुद्ध होना, अभाव होना।

तीन रूपों से युक्त हेतु के तीन प्रकार हैं—अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य। जहां साध्य प्रतिषेध्य होता है वहां हेतु अनुपलब्ध्यात्मक होता है, जहां साध्य विधेय होता है वहां हेतु स्वभावात्मक या कार्यात्मक होता है।

अनुपलब्धि और प्रतिषेध

किसी वस्तु के अभाव के निश्चय का हेतु उसकी अनुपलब्धि तब बनता है जब हम यह कह सकें—'यदि वह वस्तु होती तो अवश्य उपलब्ध होती क्योंकि उसके

साथ एक-ज्ञान में सम्बद्ध अन्य वस्तु के उपलब्ध होने से यह विदित होता है कि उसकी उपलब्धि की अन्य सामग्री विद्यमान है। यहां प्रतिषेध्य वस्तु उपलब्धि-सिद्ध न होते हुए भी कल्पनासिद्ध है। इस प्रकार जिसका अभाव कहा जाता है वह काल्पनिक रूप में विद्यमान रहती है। निषेध-वाक्य एक प्रकार का अनुमान है—कल्पना द्वारा प्रस्तुत किसी वस्तु के अभाव का उसकी अनुपलब्धि के आधार पर निश्चय। जिस ज्ञान को अनुपलब्धि कहते हैं उसका आलम्बन भी भावात्मक होता है अभावात्मक नहीं। किन्तु यह भावात्मक आलम्बन अन्य वस्तु के साथ इस प्रकार सम्बद्ध होता है कि यदि दोनों एक देश-काल में हों तो उनका ग्रहण एक ही ज्ञान में एकसाथ अनिवार्य रूप से हो। एक के उपस्थित होने पर दूसरी कल्पित होती है और उसका प्रत्यक्ष न होना उसकी अवास्तविकता के अनुमान का हेतु बनता है। प्रत्यक्ष योग्य वस्तु का प्रत्यक्ष सामग्री के विद्यमान होने पर प्रत्यक्ष न होना उसके अभाव का अनुमान कराता है। वस्तु का अभाव उसकी अव्यवहार्यता है। किन्तु अभाव का ज्ञान व्यवहारोपयोगी होता है। इस प्रकार अभाव न स्वयं वस्तु है, न प्रत्यक्ष का आलम्बन। न अभाव का प्रत्यक्ष होता है, न वस्तु के ज्ञान का अभाव वस्तु के अभाव का ज्ञान देता है। एक वस्तु का प्रत्यक्ष वस्त्वन्तर की निरी 'कल्पितता' का अनुमान कराता है।

हेतु और साध्य का एक विशेष सम्बन्ध होता है जिसके आधार पर हेतु साध्य को सूचित करता है। यह सम्बन्ध **प्रतिबन्ध, अव्यभिचार** एवं **अविनाभाव** कहा गया है। हेतु साध्य के बिना नहीं हो सकता, यही इस नियम का स्वरूप है। हेतु प्रतिबद्ध होता है, साध्य प्रतिबन्ध-विषय। हेतु और साध्य के इस प्रतिबन्ध का आधार या तो उनकी वस्तुगत एकता होती है या उनके भिन्न वस्तु होने पर उनके बीच कार्य-कारण सम्बन्ध होता है। इस प्रकार स्वभाव अथवा तादात्म्य एवं कार्यता, इन्हीं दो के आधार पर हेतु साध्य में प्रतिबद्ध होता है। अन्यथा उनके सम्बन्ध में अव्यभिचार-नियम नहीं मिल सकता।

स्वार्थानुमान

इस प्रकार प्रत्यक्ष की व्याख्या करके अनुमान की व्याख्या करने के लिए कहते हैं—

सूत्र १

अनुमान दो प्रकार का होता है :

अनुमान का लक्षण कहना चाहिए। अकस्मात् प्रकार-भेद क्यों कहा जा रहा है? :उत्तर: परार्थानुमान शब्दात्मक है किन्तु स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है। उनके अत्यन्त भिन्न होने के कारण एक ही लक्षण नहीं है, इसलिए उनके पृथक् लक्षण कहने के लिए भिन्न प्रकार कहे जाते हैं। क्योंकि भिन्न प्रकार भिन्न व्यक्ति हैं। व्यक्ति-भेद कहे जाने पर प्रत्येक व्यक्ति का अपना नियत लक्षण कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिए प्रकार-भेद की उक्ति लक्षण-निर्देश का अंग है। बिना प्रकार-भेद के कहे हुए लक्षण का निर्देश नहीं किया जा सकता, इसलिए पहले प्रकार-भेद कहा जा रहा है।

वे दो प्रकार क्या हैं?

सूत्र २

स्वार्थ और परार्थ।

जिससे स्वयं जानता है वह स्वार्थ है। जिससे दूसरे को ज्ञापित करता है वह परार्थ है।

सूत्र ३

त्रिरूप हेतु से अनुमेय-विषयक ज्ञान स्वार्थानुमान है।

तीन रूपों वाले हेतु से उत्पन्न वह ज्ञान जिसका आलम्बन अनुमेय है, स्वार्थानुमान कहलाता है। लक्षण-विषयक विप्रतिपत्ति का निराकरण करके फल-विषयक विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए कहते हैं।

सूत्र ४

यहां भी प्रमाण और फल की व्यवस्था प्रत्यक्ष के समान है।

जैसेकि नील-समानाकार प्रत्यक्ष अनुभूत होते हुए नील का बोध ठहराया

जाता है और इस कारण नील-सारूप्य व्यवस्थापन का निमित्त होने के कारण प्रमाण माना जाता है किन्तु नील-बोध := नील का ज्ञान: जिसे व्यवस्थापित किया जाता है प्रमाण-फल माना जाता है, उसी प्रकार नीलाकार उत्पन्न होता हुआ अनुमान-ज्ञान नील-बोध के रूप में अवस्थापित किया जाता है। इस प्रकार अनुमान का नील-सारूप्य :जो कि अपरोक्ष न होने के कारक अस्पष्ट होगा : प्रमाण है और नील-विकल्प रूप प्रमाण-फल, क्योंकि सारूप्य के कारण ही नील का निश्चयात्मक ज्ञान सम्पन्न होता है, अन्यथा नहीं।

ऐसे ही यहां संख्या, लक्षण और फल के विषय में मत-भेद हैं। प्रत्यक्ष परिच्छेद में विषय-विप्रतिपत्ति दूर की थी। लक्षण-निर्देश के प्रसंग में लिंग त्रिरूप कहा गया है, उसकी व्याख्या के लिए कहते हैं।

सूत्र ५

हेतु के तीन रूप हैं—

अनुमेय में उसके अस्तित्व का ही निश्चय, सपक्ष में ही अस्तित्व, असपक्ष में अनस्तित्व ही।

अनुमेय में हेतु का अस्तित्व ही—यह एक रूप है। :हेतु के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व का निश्चय ही अनुमान में उपयोगी होता है: 'निश्चय' विशेषण तीनों रूपों में आवश्यक है; क्योंकि हेतु परोक्ष-ज्ञान का निजी (सत्तागत) सामर्थ्य से निमित्त नहीं होता है, जैसेकि बीज अंकुर का। (उदाहरणार्थ) अदृष्ट धूम से अग्नि का ज्ञान नहीं होता है, और न वस्तु अपने ज्ञान-मात्र से ही परोक्ष अर्थ को प्रकाशित करती है, जैसेकि दीपक घर आदि को। देखे जाने पर भी हेतु का यदि अनुमेय के साथ सम्बन्ध निश्चित न हो तो अनुमिति नहीं होती। इसलिए परोक्ष अर्थ के साथ हेतु के अविनाभाव-सम्बन्ध को निश्चित करना ही उसका परोक्ष अर्थ के प्रतिपादन का व्यापार है, अन्य कुछ नहीं। इसलिए अन्वय, व्यतिरेक और पक्ष-धर्मता का निश्चय हेतु के व्यापार से अभिन्न होने के कारण आवश्यक है और इसलिए हेतु के सभी रूपों में 'निश्चित' पद के ग्रहण की आवश्यकता है।

'अस्तित्व' कहने से चाक्षुषत्व–आदि हेतु निराकृत होते हैं।[1] 'अस्तित्व ही' कहने से पक्ष के एक देश में असिद्ध हेतु निराकृत होता है।
१. 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह चाक्षुष है' इस अनुमान में चाक्षुषत्व के शब्द में न होने के कारण हेतु असिद्ध है। उदाहरण के लिए 'वृक्ष चेतन हैं क्योंकि वे सोते

१. 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह श्रवणगोचर है', इस अनुमान में श्रव्यत्व या श्रावणत्व शब्द का असाधारण धर्म है।

हैं'[1], इस अनुमान में पक्षभूत वृक्षों में पत्तों के सिकुड़ने से लक्षित सोना अंशतः सिद्ध नहीं है क्योंकि सब वृक्ष रात में पत्ते नहीं सिकोड़ते हैं किन्तु कुछ ही ऐसा करते हैं। अस्तित्व के बाद 'ही' से असाधारण धर्म निरस्त हो जाता है अपितु 'अनुमेय में ही अस्तित्व', इतना ही कहा जाता तो श्रावणत्व :=श्राव्यता: भी हेतु होता[2]। निश्चित के ग्रहण से और सब संदिग्धासिद्ध हेतु निरस्त हो जाते हैं।

सपक्ष का लक्षण आगे कहा जायेगा। **सपक्ष में ही अस्तित्व, यह** (हेतु का) **द्वितीय रूप है।** यहां भी 'अस्तित्व' ग्रहण से **विरुद्ध** हेतु निरस्त होता है, क्योंकि यह सपक्ष में नहीं होता[3]। 'ही' से **साधारण-अनैकान्तिक** हेतु निरस्त होता है, क्योंकि वह केवल सपक्ष में न रह कर विपक्ष में भी रहता है[4]। 'अस्तित्व के पहले' अवधारण प्रकट करने वाले 'ही' के प्रयोग से सकल सपक्ष में व्याप्त न होता हुआ भी 'प्रयत्न के बिना न होना' :अनित्यत्व की सिद्धि में: हेतु स्वीकृत होता है[5]। यदि अवधारणात्मक 'ही' का :'अस्तित्व' के: पीछे प्रयोग होता तो यह अर्थ होता—जिसका सपक्ष में अस्तित्व ही है, यह हेतु है, अतः प्रयत्न-सापेक्षता हेतु न कही जा सकेगी। 'निश्चित' कहने से संदिग्ध अन्वयवाला अनैकान्तिक हेतु निरस्त होता है। जैसे, 'कोई सर्वज्ञ है क्योंकि वह वक्ता है"। क्योंकि सपक्ष सर्वज्ञ में वक्तृता संदिग्ध है।

असपक्ष :=विपक्ष : का लक्षण आगे कहा जाएगा। **उसमें अनस्तित्व ही निश्चित** —यह तीसरा रूप है। यहां 'अनस्तित्व' के ग्रहण से **विरुद्ध** हेतु का निरास होता है क्योंकि विरुद्ध (हेतु) विपक्ष में होता है। 'ही' से विपक्ष के एक देश में रहने वाला साधारण हेतु निरस्त होता है। यथा, जब प्रयत्न-सापेक्षता साध्य हो तो अनित्यता रूप हेतु :विपक्ष के बिजली आदि: एक देश में होते हुए भी आकाश आदि में नहीं होने के कारण नियमतः निरस्त होता है। 'अनस्तित्व' से पहले अवधारण के प्रयुक्त होने पर अर्थ यह होगा—विपक्ष ही में जो नहीं है, वह हेतु है। प्रयत्न-सापेक्षता सकल सपक्ष में नहीं होने से हेतु न होगी। इसलिए 'ही' का प्रयोग पहले नहीं किया। 'निश्चित' के ग्रहण से ऐसा अनैकान्तिक हेतु निरस्त होता है जिसकी विपक्ष से व्यावृत्ति संदिग्ध हो।

---

१. जैन युक्ति।

३. उदाहरण के लिए 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह प्रयत्नपूर्वक है'।

४. 'शब्द प्रयत्नपूर्वक है क्योंकि वह अनित्य है'।

५. 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रयत्नपूर्वक है'।

:प्रश्नः– 'सपक्ष में ही अस्तित्व', यह कहने से 'विपक्ष में अनस्तित्व ही', अर्थात् यह अवगत होता है । तो फिर दोनों का कथन क्यों किया गया है ?

उत्तर—

दोनों का ग्रहण यह दिखाने के लिए किया गया है कि अन्वय हो या व्यतिरेक, उनका नियम-युक्त रूप में ही प्रयोग करना चाहिये, अन्यथा नहीं । अनियत रूप से दोनों का प्रयोग करने पर यह अर्थ होगा–सपक्ष में जो है और विपक्ष में जो नहीं है, वह हेतु है । ऐसा होने पर 'वह सांवला है क्योंकि (वह) उसका पुत्र है, जैसेकि उसके और दृश्यमान पुत्र हैं', इस अनुमान में 'उसका पुत्र होना' ठीक हेतु हो जाएगा । इसलिए नियमयुक्त अन्वय और व्यतिरेक का ही प्रयोग करना चाहिए जिससे हेतु और साध्य का प्रतिबन्ध अर्थागत हो । नियमयुक्त उनके प्रयोग के अवश्य-कर्त्तव्य होने पर दोनों में से एक ही प्रयोक्तव्य है, नकि दोनों । इसलिए नियमयुक्त अन्वय अथवा व्यतिरेक प्रयोक्तव्य है, यह सिखाने के लिए दोनों का ग्रहण किया गया है ।

हेतु के तीन रूप कहने के प्रसंग में अनुमेय, सपक्ष और विपक्ष कहे गये हैं । उनके लक्षण कहने चाहिएं । उनमें अनुमेय कौन है, इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—

सूत्र ६

यहां अनुमेय वह धर्मी है जिसका विशेष := धर्मः जिज्ञासित है ।

हेतु का लक्षण निश्चित करते समय धर्मी अनुमेय है । अन्यत्र साध्य की प्रतिपत्ति के समय समुदाय अनुमेय होता है :समुदाय अर्थात् धर्म और धर्मी का समुदायः । व्याप्ति के निश्चय के समय धर्म अनुमेय होता है, यह दिखलाने के लिए 'यहां' का ग्रहण किया गया है । जिस धर्मी के धर्म को जानने की इच्छा हो वह अनुमेय है ।

सूत्र ७

साध्य धर्म की समानता से समान विषय सपक्ष है ।

जो विषय पक्ष के सदृश है वह उपचार से पक्ष कहलाता है । वही समान शब्द से विशेषित किया जा रहा है : जो उपचार से पक्ष कहा गया है वह असमान विषयों से पृथक् किया जा रहा है: । समान पक्ष ही सपक्ष है । यहां समान के स्थान पर 'स' शब्द का आदेश हो जाता है ।

यह प्रश्न हो सकता है कि पक्ष और सपक्ष की वह समानता क्या है जिससे सपक्ष पक्ष के समान है ? इसके उत्तर में कहते हैं—'साध्य धर्म की समानता से' । साध्य-धर्म असिद्ध होने के कारण साध्य है और पराश्रित होने के कारण धर्म है ।

विशेष साध्य नहीं है अपितु सामान्य साध्य है। इसलिए यहां सामान्य को साध्य कहा है। जो साध्य धर्म भी है, और सामान्य भी है, उसी के द्वारा सपक्ष पक्ष के समान है। **असपक्ष** क्या है?

सूत्र ८

जो सपक्ष नहीं है वह **असपक्ष** है।

कौन सपक्ष नहीं है?

सूत्र ९

सपक्ष से जो **अन्य**, उसके **विरुद्ध** एवं उसका **अभाव** हो।

सपक्ष से **अन्यता**[1] और **विरोध**[2] तबतक नहीं समझे जा सकते जबतक सपक्ष का स्वाभाविक अभाव ज्ञात न हो। अतएव अन्यता और विरोध की प्रतीति के बल से 'अन्य' और 'विरुद्ध' सपक्ष के अभाव के रूप में प्रतीत होते हैं। जबकि अन्य और विरुद्ध में भी अभाव अन्यता और विरोध की प्रतीति के द्वारा प्रतीत होता है, अभाव[3] में सपक्ष का अभाव **साक्षात्** रूप से प्रतीत होता है। 'अन्य' और 'विरुद्ध' **सामर्थ्य** से (बाई इंप्लीकेशन) अभाव-रूप प्रतीत होते हैं। अतः तीनों ही **असपक्ष** हैं।

सूत्र १०

त्रिरूप हेतु तीन ही हैं।

प्रतिपक्षी के द्वारा पूछे हुए हेतु के तीन रूप पहले बताये गये हैं। अब उस त्रिरूप हेतु के तीन प्रकार कहे जा रहे हैं। वे तीन प्रकार क्या हैं?

सूत्र ११

अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य।

साध्य के प्रतिषेध्य होने पर अनुपलब्धि हेतु होती है[4] और हेतु के तीन रूपों से युक्त होती है। साध्य के विधेय होने पर हेतु स्वभाव होता है अथवा कार्य,[5] एवं दोनों ही त्रिरूप होते हैं।

टिप्पणी (यहां प्रतिज्ञा-वाक्य का पहले द्वैधीकरण किया है—निषेधात्मक

---

१. अन्यता = भिन्नता = पृथक्ता = अन्य-धर्म–संसर्ग = भिन्न-धर्म-संसर्ग

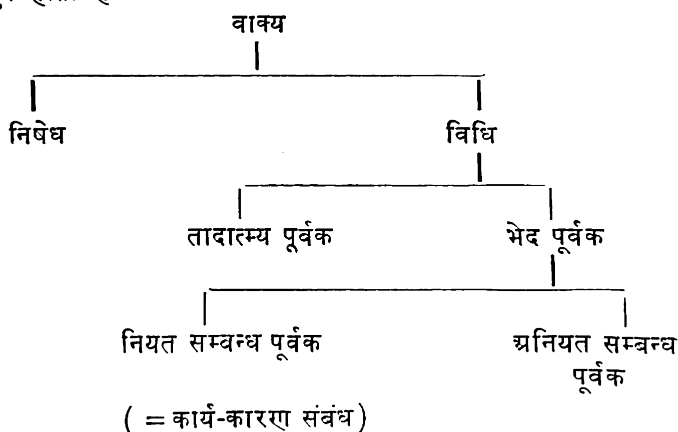
२. विरुद्धता = परस्पर-परिहार = सहानवस्थान

३. अभाव = निषेधमात्र

४. यथा 'यहां घर नहीं है, क्योंकि उपलब्ध नहीं हो रहा है'।

५. यथा 'यह वृक्ष है, क्योंकि यह नीम है', स्वभाव हेतु।
'यहां अग्नि है क्योंकि यहां धूम है', कार्य हेतु।

वाक्य और विध्यात्मक वाक्य। फिर विधि-वाक्य का पुनः द्वैधीकरण है—जहां उद्देश्य और विधेय का तादात्म्य, अर्थात् वास्तविक अभेद, है और जहां उनमें भेद है। पहले में विधि का आधार स्वभाव है। ये पॉज़िटिव एनेलिटिकल जजमेंट्स हैं। जिन विधि वाक्यों में उद्देश्य और विधेय वस्तुतः भिन्न हैं वे उद्देश्य और विधेय के नियत सम्बन्ध को प्रतिपादित कर सकते हैं अथवा अनियत सम्बन्ध को। नियत सम्बन्ध कार्य-कारण सम्बन्ध होता है। अतएव, भिन्न वस्तुओं के नियत सम्बन्ध के आधार पर अनुमान कार्य-हेतुक होता है।



जहां प्रतिज्ञा वाक्य निषेध-वाक्य होगा वहां हेतु अनुपलब्धि होगी। जहां प्रतिज्ञा-वाक्य विधि-वाक्य होगा वहां व्याप्ति का आधार या तो स्वभाव होगा या कार्य-कारण-भाव होगा।)

अनुपलब्धि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

सूत्र १२

इनमें अनुपलब्धि का उदाहरण इस प्रकार है—किसी प्रदेश-विशेष में घट नहीं है क्योंकि उपलब्धि-लक्षण के प्राप्त होने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है।

यह उदाहरण उपप्रदर्शन के लिए है—जैसे यह अनुपलब्धि है ऐसे ही अन्य भी है, यही नहीं है। प्रदेश-विशेष का अर्थ है वह प्रदेश जोकि ज्ञाता के लिए प्रत्यक्ष है। सब स्थान वैसे न होने के कारण 'किसी' यह विशेषण दिया गया है। यहां पर धर्मी है ज्ञाता के लिए प्रत्यक्ष कोई एक प्रदेश। 'घट नहीं है' यह साध्य हुआ। उपलब्धि का अर्थ ज्ञान है। लक्षण उसकी जनक सामग्री है क्योंकि उससे उपलब्धि लक्षित होती है। उसके द्वारा प्राप्त वस्तु :ज्ञान: के जनकरूप से सामग्री के अन्दर अन्तर्भूत होने के कारण उपलब्धि लक्षण-प्राप्त अर्थात् दृश्य है। 'उसकी अनुपलब्धि' यह हेतु है। किन्तु

जो जहां नहीं है वह वहां दृश्य कैसे होगा ? दृश्यत्व के समारोप से अविद्यमान :अर्थ: भी दृश्य कहलाता है। जो :अर्थ: इस प्रकार से संभावित किया जाता है—यदि वह वहां होगा तो दृश्य ही होगा—वह :अर्थ: अविद्यमान होने पर भी वहां दृश्य के रूप में समारोप्य है।

इस प्रकार से संभाव्य क्या है ?

जिसके अपने आश्रय में उपलब्धि के समग्र कारण विद्यमान होते हैं वे कारण समग्र कब समझे जाते हैं ?

उत्तर : जब उसी एक ज्ञान से संसर्ग रखने वाली दूसरी वस्तु की उपलब्धि हो। चक्षुरादि इन्द्रियों के प्रणिधान के सम्मुख जब उसी एक इन्द्रिय-विज्ञान के द्वारा ग्राह्य दो परस्पर सापेक्ष वस्तुएं होती हैं तो वे एकेन्द्रिय-संसर्गी := 'उसी एक ज्ञान से संसर्ग रखने वाली' : कहलाती हैं। उन दोनों के होते हुए ज्ञान केवल एक तक सीमित नहीं रहता क्योंकि दोनों ही में ज्ञान का विषय बनने की योग्यता समान रूप से रहती है। इसलिए उसी ज्ञान से संसर्ग रखने वाली एक वस्तु के दृश्य होने पर दूसरी, जिसके प्रत्यक्ष की सामग्री सम्पूर्ण है, यदि विद्यमान होगी तो अवश्य ही दृश्य होगी, यह संभावित कर दृश्यत्व का आरोप किया जाता है। उसकी अनुपलब्धि दृश्यानुपलब्धि है। इसलिए वही घटरहित प्रदेश और तद्विषयक ज्ञान दृश्यानुपलब्धि कहे जाते हैं, क्योंकि वे दृश्यानुपलब्धि के निश्चय के हेतु होते हैं।

जबतक 'उसी एक ज्ञान से संसर्ग रखने वाली' वस्तु और उसका ज्ञान निश्चित नहीं होते हैं तबतक दृश्यानुपलब्धि का निश्चय नहीं होता। अतएव अनुपलब्धि वस्तु और उसका ज्ञान है। ज्ञान का अभावमात्र स्वयं अनिश्चित होने के कारण कुछ नहीं बतलाता। इसलिए दृश्य-घट से रहित प्रदेश और उसका ज्ञान वचन-सामर्थ्य से ही दृश्यानुपलब्धि रूप कहा गया समझना चाहिए।

टिप्पणी

(अर्थात् अनुपलब्धि न ज्ञान का अभाव-मात्र है, न अभाव-मात्र का ज्ञान, बल्कि अभाव के प्रतियोगी से एक-ज्ञान-संसर्गी वस्तु का ज्ञान है। इस प्रकार अनुपलब्धि वस्तुभूत और ज्ञानात्मक है, अभाव उसके द्वारा अनुमित वस्तु-प्रतिषेध है।)

उपलब्धि-लक्षण की प्राप्ति क्या है ?

सूत्र १३

उपलब्धि-लक्षण की प्राप्ति उपलब्धि के अन्य प्रत्ययों := कारणों: की समग्रता और स्वभाव-विशेष है।

'उपलब्धि-लक्षण की प्राप्ति का अर्थ है घट की उपलब्धि-लक्षण = :उपलब्धि-

जनक सामग्री : की प्राप्तता । 'उपलब्धि के अन्य प्रत्ययों की समग्रता' का अर्थ है—ज्ञान का जनक घट भी है, चक्षुरादि अर्थ भी। दृश्य घट से भिन्न हेतु अन्य 'प्रत्यय' हैं। उनकी समग्रता उनकी सन्निधि है। स्वभाव विशेष का अर्थ है विशिष्ट स्वभाव। यह विशिष्ट स्वभाव और प्रत्ययान्तर-साकल्य, दोनों को घटादि की उपलब्धि-लक्षण-प्राप्तता समझना चाहिए।

स्वभाव-विशेष कैसा है ?

सूत्र १४

उपलब्धि के अन्य प्रत्ययों के विद्यमान होने पर, जो स्वभाव स्वयं विद्यमान होने पर आवश्यक रूप से प्रत्यक्ष होता है वह स्वभाव विशेष है।

दृश्य घट से अतिरिक्त उपलब्धि के प्रत्ययों के (कारणों के) विद्यमान होने पर जो स्वभाव स्वयं विद्यमान होने पर प्रत्यक्ष होता ही है, वह स्वभाव विशेष है। अर्थ यह है—एक विशिष्ट द्रष्टा की अपेक्षा से यह प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है : देखने के लिए प्रवृत्त द्रष्टा के द्वारा दृश्यमान भाव उभय-युक्त होता है : स्वभाव-विशेष और प्रत्ययान्तर से: । अदृश्यमान भाव जोकि देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट हैं प्रत्ययान्तर-सामग्री से युक्त होने पर भी स्वभाव-विशेष से रहित होते हैं। जिन : अन्य: प्रत्ययों से द्रष्टा देखता है वे सन्निहित हैं। जब वह देखने के लिए प्रवृत्त है तो : भाव अदृश्य होते हुए भी : अन्य-प्रत्यय-सन्निहित हैं। जब वह देखने के लिए प्रवृत्त नहीं है तो वे भाव अन्य प्रत्ययों के वैकल्य से प्रत्यक्ष-योग्य स्थान में अवस्थित होते हुए और स्वभाव-विशेष-युक्त होने पर भी देखे नहीं जा सकते। देश और काल में दूर भाव दोनों से ही विकल हैं : प्रत्ययान्तर और स्वभाव-विशेष: । इस प्रकार, देखने वाले के लिए कभी (देखते हुए) प्रत्ययान्तर-सामग्री पूर्ण होने पर स्वभाव-विशेष विकल होता है, कभी न देखते हुए वस्तु के दृश्य और योग्य-देशस्थ होने पर भी प्रत्ययान्तर विकल होता है।

टिप्पणी

(पहली अवस्था में स्वभाव-विशेष न होने से प्रत्यक्ष नहीं होता, दूसरी अवस्था में प्रत्ययान्तर-सामग्री न होने से। पहली में देख रहे हैं किन्तु देखने के लिए विषय नहीं हैं, दूसरी में देखने के लिए है, किन्तु देख नहीं रहे हैं)।

दूर देश-काल के भाव दोनों से रहित हैं :

टिप्पणी

(१. प्रत्ययसहित किन्तु वस्तु-रहित, २. प्रत्ययरहित किन्तु वस्तु-सहित, ३. उभय रहित। इन तीनों अवस्थाओं में उपलब्धि नहीं होती। उपलब्धि का

विषय भी आलम्बन प्रत्यय के रूप में परिगणित है, इस कारण यहां **प्रत्ययान्तर** चर्चित हैं, जिनमें अधिपति-प्रत्यय समनन्तर और सहकारी समझे जाते हैं। **स्वभाव-विशेष** वस्तुसंश्रयी अन्यव्यावृत्त विकल्प है। क्षण अथवा स्वलक्षण के समान वह देशानुगत और कालानुगत नहीं है और न केवल सामान्य-लक्षण के समान कल्पित है।) अनुपलब्धि को उदाहृत कर स्वभाव को उदाहृत करने के लिए कहते हैं—

सूत्र १५

स्वभाव अपनी सत्तामात्र से सत्तावान् साध्य धर्म हेतु होता है।

'स्वभाव हेतु होता है' सूत्र में यह उद्देश्य और विधेय का संबंध है। स्वभाव साध्य का किस प्रकार का हेतु है ?

जिसका अस्तित्व हेतु की अपनी सत्ता पर ही आधारित हो, जो केवल हेतु के अस्तित्व की अपेक्षा से विद्यमान हो, जो हेतु की सत्ता के अतिरिक्त किसी हेतु की अपेक्षा नहीं करता, वह स्वसत्ता-मात्र-भावी साध्य है। इस प्रकार का साध्य होने पर हेतु उस साध्य का स्वभाव ही होता है, अन्य कुछ नहीं। : अर्थात् हेतु और साध्य अस्तित्व की दृष्टि से अभिन्न होते हैं, भिन्न नहीं।:

उदाहरण—

सूत्र १६

जैसे 'यह वृक्ष है क्योंकि यह अशोक है।' 'यह' धर्मी है, 'वृक्ष' साध्य है, 'अशोक होना' यह हेतु है। अर्थ यह हुआ—यह वृक्ष कहलाने के योग्य है क्योंकि यह अशोक कहलाने के योग्य है। किसी अशोक-बहुल प्रदेश में कोई मूर्ख व्यक्ति अशोक किसे कहते हैं, यह जानता हो और किसी ऊंचे अशोक के पेड़ को दिखलाकर कहा जाय—यह वृक्ष है, तो वह अपनी मूर्खता के कारण अशोक वृक्ष की ऊंचाई को भी वृक्ष-शब्द के प्रयोग के लिए निमित्त समझ सकता है और छोटे अशोक को देखकर उसे वृक्ष नहीं भी समझ सकता है। इस मूर्ख को यह बताया जा रहा है कि अशोक होना ही वृक्ष की संज्ञा के लिए पर्याप्त निमित्त है। ऊंचाई आदि अन्य इस व्यवहार के लिए निमित्त नहीं हैं। निमित्त केवल अशोकत्व है। अर्थात् अशोकगत शाखादि-युक्तता ही निमित्त है।

कार्य-हेतु के उदाहरण के लिए कहते हैं—

सूत्र १७

कार्य-हेतु का उदाहरण है 'यहां अग्नि है क्योंकि धूम है।'

'अग्नि' साध्य है, 'यहां' धर्मी है, 'धूम' हेतु है। लोक में कार्यकारण-भाव

प्रत्यक्ष और अनुपलब्धि के आधार पर सुविदित है, इसलिए स्वभाव के समान कार्य-हेतु का (यहां) लक्षण नहीं कहा गया है।

शंका—हेतु के तीन रूप होने के कारण हेतु को एक ही कहना ठीक हैं अथवा तीन रूप होने के कारण हेतु को एक कहना ठीक नहीं है? और यदि प्रकार-भेद से भेद कहा जाता है तो एक स्वभाव-हेतु के अनन्त प्रकार होने के कारण तीन कहना अयुक्त है।

इस पर कहते हैं—

सूत्र १८

यहां दो : हेतु : वस्तु के साधक हैं, एक प्रतिषेध का हेतु है।

यहां, अर्थात् इन तीन हेतुओं में, दो हेतु विधि के ज्ञापक हैं, एक प्रतिषेध का। प्रतिषेध को अभाव और अभाव का व्यवहार समझना चाहिए। इससे अर्थ यह हुआ—साध्य को सिद्ध करने के लिए हेतु होता है, इसलिए वह साध्य का अंग है, साध्य प्रधान है। अतः साध्य के उपकरण हेतु के भिन्न प्रकार प्रधान साध्य के भेद के अनुसार होते हैं, स्वरूप-भेद के कारण नहीं। साध्य कहीं विधिरूप होता है, कहीं प्रतिषेध रूप। विधि और निषेध की अवस्थिति परस्पर-परिहार-पूर्वक होती है और इसलिए उनके हेतु भिन्न होते हैं। विधि भी कहीं हेतु से भिन्न होती है, कहीं अभिन्न। भेद और अभेद की स्थिति भी परस्पर-परिहार-पूर्वक होने के कारण उनके हेतु विभिन्न होते हैं। इसलिए साध्य के परस्पर-विरुद्ध होने के कारण हेतु भिन्न होते हैं, स्वतः नहीं।

तीन ही हेतु क्यों हैं, अन्य हेतु क्यों नहीं हैं, इस शंका के निवारण के लिए कहते हैं—

सूत्र १९

क्योंकि स्वभाव-प्रतिबन्ध (सत्ता-पारतंत्र्य, स्वतः नियत सम्बन्ध) होने पर ही एक अर्थ दूसरे अर्थ को सूचित करता है।

स्वभाव-प्रतिबन्ध का अर्थ है स्वभाव के द्वारा प्रतिबंध। अर्थात् स्वभाव-प्रतिबद्धता या प्रतिबद्ध-स्वभावता। कारण अथवा स्वभाव के साध्य होने पर कार्य एवं स्वभाव दोनों में ही स्वभाव-प्रतिबन्ध सदृश होता है, इसलिए एक ही समास से दोनों का संग्रह हुआ है। क्योंकि स्वतः नियत सम्बन्ध या परस्पर अस्तित्व-पारतंत्र्य होने पर ही हेतुभूत अर्थ साध्यभूत अर्थ को सूचित कर सकता है इसलिए तीन ही हेतु हैं, अन्य नहीं।

स्वभाव-प्रतिबंध होने पर ही गम्य-गमक-भाव क्यों है, अन्यथा नहीं?

सूत्र २०

क्योंकि उसके साथ अप्रतिबद्ध का उससे अव्यभिचार-नियम का अभाव है : अर्थात् प्रतिबन्ध न होने पर व्यभिचार का नियत अभाव नहीं होता : ।

'उस' का अर्थ है स्वभाव ।' उस स्वभाव से अप्रतिबद्ध' अर्थात् जो स्वभावतः जिससे प्रतिबद्ध नहीं है उस अप्रतिबन्ध के विषय के साथ उसके अव्यभिचार के नियम का अभाव है ।

अर्थ यह हुआ—जो स्वभाव से जिसके साथ प्रतिवद्ध नहीं है वह उस अप्रतिबन्ध के विषय के बिना नहीं होता, ऐसा उनका अव्यभिचार या अविनाभाव नियम नहीं है । अव्यभिचार नियम से ही गम्य-गमक भाव होता है । : अर्थात् नियत अविनाभाव के कारण ही एक वस्तु दूसरे की ज्ञापक होती है : हेतु अप्रत्यक्ष अर्थ के ज्ञान के निमित्त के रूप में केवल प्रदीप के समान : ज्ञान उत्पन्न करने की : योग्यता से युक्त रूप में अभीष्ट नहीं होता किन्तु अव्यभिचारी तथा निश्चित रूप में अभीष्ट होता है । := एक अर्थ में अन्य अर्थ को सूचित करने की योग्यता अनेक प्रकार की हो सकती है । वह हेतु तभी होता है जबकि उसकी ज्ञापकता का आधार ज्ञाप्य के साथ उसके अविनाभाव का निश्चय होता है । : इस प्रकार स्वभाव-प्रतिबंध होने पर अविनाभाविता का निश्चय होता है और उससे गम्य-गमक भाव :अर्थात् जो अर्थ अपनी सत्ता या स्वरूप से ही नियत-संबद्ध हैं उनके बारे में यह निश्चय होता है कि वे एक-दूसरे के बिना नहीं हो सकते, और इसी निश्चय के आधार पर उनमें से एक दूसरे के ज्ञान का हेतु होता है । इसलिए स्वभाव-प्रतिबंध होने पर एक अर्थ दूसरे को बतलाता है अन्यथा नहीं, यह बात ठहरती है । :

यह शंका हो सकती है कि पराधीन का अपराधीन अर्थ में प्रतिबन्ध होता है, यहां हेतु और साध्य में किसका किसमें प्रतिबन्ध होना चाहिए ? इस पर कहते हैं—

सूत्र २१

वह प्रतिबन्ध हेतु का साध्य अर्थ में होता है ।

वह स्वभाव-प्रतिबन्ध हेतु का साध्य अर्थ में होता है । हेतु परायत्त होने के कारण प्रतिबद्ध होता है किन्तु साध्य अर्थ परायत्त न होने के कारण प्रतिबंध-विषय है, प्रतिबद्ध नहीं । अर्थ यह हुआ-—तादात्म्य-विशेष होने पर भी जो प्रतिबद्ध है वही ज्ञापक होता है, जो प्रतिबन्ध-विषय है वह ज्ञाप्य होता है । :कार्य-कारण-भाव में तो स्पष्ट ही कार्य परायत्त होने के कारण ज्ञापक होता है । किन्तु स्वभाव-हेतु के प्रयोगस्थल में हेतु और साध्य में तादात्म्य अविशिष्ट होने के कारण हेतु और साध्य का विवेक किस प्रकार होगा—यह प्रश्न है । इस पर यह कहा गया है कि जहां

पर हेतु और साध्य केवल अर्थान्तर न हो कर तादात्म्य-विशेष से सम्बद्ध हैं वहां भी प्रतिबद्ध और प्रतिबन्ध-विषय का भेद होता है। : जिस वस्तु का जो नियत स्वभाव है वह उसमें प्रतिबद्ध होता है, जैसे प्रत्यनपूर्वकता अनित्यता में प्रतिबद्ध है। जिसका वह भी स्वभाव है और अन्य भी वह प्रतिबन्ध-विषय है, प्रतिबद्ध नहीं। जैसे अनित्यता प्रयत्नपूर्वकता में : = जो वस्तु दूसरे के बिना नहीं होती वह प्रतिबद्ध होने के कारण हेतु बनती है। जो दूसरे के साथ भी होती है और उसके बिना भी वह प्रतिबन्ध-विषय है और साध्य बनती है। प्रतिबन्ध-विषय प्रतिबद्ध की तुलना में कम व्यापक नहीं होता, प्रतिबद्ध कम व्यापक होता है। : ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव निश्चयापेक्ष होता है। प्रयत्नपूर्वकता ही अनित्यता के स्वभाव वाली निश्चित होती है, इसलिए वही अनित्यता में प्रतिबद्ध होती है। इसलिए नियमयुक्त विषय में ही ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव होता है, अन्यथा नहीं।

हेतु का स्वभाव-प्रतिबन्ध किस कारण होता है ?

सूत्र २२

क्योंकि हेतु-भूत वस्तु का साध्यभूत वस्तु के साथ या तादात्म्य होता है या उससे उत्पत्ति होती है।

साध्यभूत अर्थ ही जिसकी आत्मा या स्वभाव है वह तादात्म्य हेतु है। उसका भाव है तादात्म्य। अर्थ यह हुआ—क्योंकि हेतु साध्य-स्वभाव है इसलिए उसमें स्वभाव-प्रतिबन्ध होता है।

यदि हेतु साध्य-स्वभाव है तो साध्य और हेतु के अभेद के कारण हेतु :साध्य-निर्देश-रूप: प्रतिज्ञा के अर्थ का एक भाग बन जाएगा। इसलिए वस्तु की ओर संकेत किया गया है। हेतु और साध्य का अभेद वस्तुगतरूप से अभीष्ट है जबकि अनुमान :अनुमानरूप: विकल्प का विषय समारोपित रूप है। उसकी अपेक्षा से हेतु और साध्य में भेद है : = हेतु और साध्य के विकल्पित लक्षण: भिन्न हैं, इसलिए एक से दूसरे का अनुमान पुनरुक्ति नहीं है। किन्तु हेतु और साध्य जिन वास्तविकताओं पर आरोपित हैं वे अभिन्न हैं। उनके वस्तुगत अभेद के कारण ही उनके विकल्प-निर्धारित स्वरूपों में नियत संबंध उपस्थित होता है। : क्योंकि ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव निश्चय की अपेक्षा रखता है, इसलिए उनका जैसा रूप निश्चयारूढ़ होता है उसकी अपेक्षा से उनका भेद युक्त है किन्तु वास्तविक :रूप की अपेक्षा से अभेद युक्त है :। केवल तादात्म्य से नहीं अपितु साध्य-अर्थ से हेतु के उत्पन्न होने के कारण भी साध्य अर्थ में हेतु का स्वभाव-प्रतिबन्ध होता है।

हेतु का दो निमित्तों से स्वभाव-प्रतिबन्ध क्यों होता है, अन्य निमित्त से क्यों नहीं ? इस पर कहते हैं—

सूत्र २३

क्योंकि जिसका वह स्वभाव नहीं है और न उससे उत्पत्ति हुई है उसमें प्रतिबद्ध-स्वभावता नहीं होती ।

'उसमें' अर्थात् जो साध्य न हेतु का स्वभाव है, न हेतु का उत्पादक है, उसमें हेतु का स्वभावसिद्ध नियत सम्बन्ध नहीं होता । यही उसकी अप्रतिबद्ध-स्वभावता है । यदि भिन्न-स्वभाव और अनुत्पादक में हेतु प्रतिबद्ध-स्वभाव हो तब किसी और निमित्त से भी स्वभाव-प्रतिबद्ध हो सकेगा, क्योंकि स्वभाव-प्रतिबद्ध प्रतिबद्ध-स्वभावता ही है, अन्य कोई आयत्तस्वभाव नहीं होता । इसलिए तादात्म्य और तदुत्पत्ति के द्वारा ही स्वभाव-प्रतिबन्ध होता है ।

स्वभाव-प्रतिबन्ध तादात्म्य और तदुत्पत्ति के द्वारा ही हो, किन्तु कार्य और स्वभाव ही ज्ञापक हो सकते हैं, यह किस प्रकार सिद्ध हुआ ? इस पर कहते हैं—

सूत्र २४

वे तादात्म्य और तदुत्पत्ति स्वभाव और कार्य में ही होती हैं, इसलिए उनसे ही वस्तु सिद्ध होती है ।

क्योंकि स्वभाव और कार्य में ही तादात्म्य और तदुत्पत्ति रहती है और उसी के आधार पर ज्ञाप्य और ज्ञापक का सम्बन्ध होता है, इसलिए उन्हीं कार्य और स्वभाव से वस्तु अर्थात् विधि की सिद्धि होती है ।

प्रतिषेध-सिद्धि अदृश्य के अनुपलम्भ से भी क्यों अभीष्ट नहीं है ? इस पर कहते हैं—

सूत्र २५

प्रतिषेध भी यथोक्त अनुपलब्धि से सिद्ध होता है ।

उससे वह किस कारण होती है ? :दृश्यानुपलब्धि से प्रतिषेध-सिद्धि किस कारण होती है ? : ।

सूत्र २६

क्योंकि वस्तु होने पर वह अनुपलब्धि संभव नहीं है ।

उस प्रतिषेध्य वस्तु के विद्यमान होने पर दृश्यानुपलब्धि संभव नहीं है, इसलिए उससे प्रतिषेध सिद्ध होता है ।

किन्तु उसी से क्यों ?

सूत्र २७

अन्यथा जो अर्थ उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त नहीं हैं और देश, काल एवं स्वभाव

से विप्रकृष्ट हैं, उनमें अपने प्रत्यक्ष की निवृत्ति के कारण :उनके: अभाव के निश्चय का अभाव रहेगा।

'अन्यथा' शब्द का अर्थ है—वस्तु के होने पर यदि उसकी अदृश्यानुपलब्धि संभव हो : तो : इस कारण से अन्य अनुपलब्धि से प्रतिषेध–सिद्धि नहीं होती :अदृश्य का अर्थ है वह वस्तु जिसके प्रत्यक्ष रूप को कल्पना से भी आरोपित नहीं किया जा सकता, प्रत्यक्ष के अयोग्य होने के कारण जिसका रूप कल्पित नहीं किया जा सकता, स्वभावतः प्रत्यक्षातीत, इन्द्रियातीत ऐसी अदृश्य वस्तु की अनुपलब्धि से प्रतिषेध नहीं होता। प्रतिषेध-सिद्धि के लिए दृश्यानुपलब्धि ही उपयोगी है, वही प्रतिषेध में हेतु हो सकती है।:

ऐसा क्यों है? क्योंकि वस्तु के विद्यमान होने पर भी वह अनुपलब्धि संभव है। :आलम्बन के अतिरिक्त : अन्य प्रत्ययों के सम्पूर्ण होने पर एवं स्वभाव-विशेष के विद्यमान होने पर वस्तु उपलब्धि-जनक सामग्री को प्राप्त होती है। दोनों में किसी एक के भी न होने पर वह वस्तु उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त नहीं होती।

इस सूत्र में 'अनुपलब्धि-लक्षण-प्राप्त' का अर्थ है प्रत्ययान्तर-विकल। 'देश-काल-स्वभाव-विप्रकृष्ट' का अर्थ है स्वभाव-विशेष-रहित। इस प्रकार के अर्थों के अभाव का निश्चय उनकी अनुपलब्धि से नहीं किया जा सकता क्योंकि उनके रहते हुए भी उनकी अनुपलब्धि रहती है।

निश्चय का अभाव क्यों होता है?

क्योंकि उनमें ज्ञाता को प्रत्यक्ष-ज्ञान रहता ही नहीं। क्योंकि अनुपलब्धि-लक्षण-प्राप्त विषयों में प्रत्यक्ष-ज्ञान की निवृत्ति के कारण उनके अभाव का निश्चय नहीं हो सकता, इसलिए उन विषयों के रहते हुए भी प्रत्यक्ष-निवृत्ति रूप अदृश्यानुपलब्धि संभव है। इसलिए यथोक्त : दृश्यानुपलब्धि : से ही प्रतिषेध सिद्ध होता है।

यह दृश्यानुलब्धि किस समय प्रमाण होती है, उसका क्या स्वभाव है और क्या कार्य है?

सूत्र २८

प्रतिपत्ता के वर्तमान और 'स्मृति-संस्कार के न भूलने पर' अतीत प्रत्यक्ष की निवृत्ति अभाव के व्यवहार को प्रवृत्त करती है।

प्रत्यक्ष की निवृत्ति का अर्थ है घटादि विषय की अनुपलब्धि जिसका स्वभाव उस विषय का अभाव है। इसलिए स्वभावानुपलब्धि रूप हेतु से अभाव साध्य नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यय सिद्ध है। यद्यपि घट अविद्यमान है तथापि उसके साथ एक-ज्ञान-संसर्ग रखने वाले भूतल के भासित होने पर वह :घट: जिसके विषय में यह विदित है कि उसकी ज्ञापक-सामग्री पूर्ण है, दृश्य रूप में कल्पित होने के कारण प्रत्यक्ष कहा

जाता है। इसलिए एक-ज्ञान संसर्गी दृश्यमान अर्थ : भूतलादि : और उसका ज्ञान प्रत्यक्ष-निवृत्ति कहे जाते हैं। उस दृश्यमान अर्थ से और उसके ज्ञान से : उस अन्य अर्थ की : निवृत्ति निश्चित की जाती है जोकि प्रत्यक्ष-सामग्री के संपूर्ण होने के कारण दृश्य रूप में कल्पित होती है। इसलिए वस्तु और ज्ञान ही प्रत्यक्ष घट का अभाव कहा जाता है। अभाव यहां निवृत्ति मात्र नहीं है क्योंकि निवृत्तिमात्र से दृश्य अर्थ की निवृत्ति का निश्चय नहीं होता। :यहां अनुपलब्धि = अभाव = एक-ज्ञान-संसर्गी वस्तु एवं उसका ज्ञान = भावात्मक वस्तु। यह प्रत्यक्ष अनुपलब्धि कल्पना में प्रत्यक्ष किन्तु वस्तुतः अप्रत्यक्ष अर्थ के प्रतिषेध का हेतु बनती है।

यह शंका हो सकती है कि दृश्य की : प्रत्यक्ष : अनुपलब्धि से दृश्य का अभाव निश्चित किया जाता है : तो फिर अनुमान अनावश्यक हो जाएगा:। यह ठीक है किन्तु एक-ज्ञान-संसर्गी के दृश्यमान होने पर यदि घट होता तो अवश्य दृश्य होता, इस प्रकार वह दृश्य संभावित या कल्पित होता और उससे दृश्य की अनुपलब्धि निश्चित होती और दृश्य की उपलब्धि के निश्चय के सामर्थ्य ही से दृश्य का अभाव निश्चित होता। यदि दृश्य विद्यमान होता तो दृश्य की अनुपलब्धि न होती। इस दृश्य की अनुपलब्धि के निश्चय से दृश्य का अभाव अर्थ के बल से उपलक्षित होता है किन्तु : अदृश्य अर्थों के भी अस्तित्व की आशंका से : अभाव का निश्चय व्यवहार-योग्य नहीं होता। इसलिए दृश्यानुपलब्धि रूप हेतु से प्रतिषेध सिद्ध किया जाता है।

इसलिए एक-ज्ञान-संसर्गी दृश्यमान वस्तु और उसका ज्ञान, जोकि अन्य वस्तु रूप हैं, वे ही इस निश्चय के हेतु बनते हैं कि घटादि चक्षुर्योग्य वस्तु उपलब्ध नहीं हो रही है। इसलिए उन्हें ही प्रत्यक्ष-निवृत्ति कहा गया है।

जैसे कि एक-ज्ञान-संसर्गी के प्रत्यक्ष होने पर अविद्यमान होते हुए भी अर्थ को आरोपित अथवा कल्पित प्रत्यक्षता दी जाती है वैसे ही उस एक-ज्ञान-संसर्गी के अतीत होने पर किन्तु उसके स्मृति-संस्कार के जागरूक होने पर अविद्यमान घट को भी वैसा ही आरोपित रूप दिया जाता है। इससे दृश्यानुपलब्धि का स्वभाव प्रत्यक्षयोग्य घट की निवृत्ति कहा गया है। क्योंकि वह : प्रत्यक्ष : सिद्ध है इसलिए घटाभाव साध्य नहीं है, अभाव का व्यवहार साध्य है।

अमूढ़ का अर्थ है अभ्रष्ट या अनष्ट। संस्कार का अर्थ है प्रत्यक्ष के द्वारा आहित स्मृति का जनक-संस्कार। अतीत और वर्तमान का संबंध प्रत्यक्ष से है। अमूढ-स्मृति संस्कार का अतीत से संबंध है क्योंकि घटरहित प्रदेश के प्रत्यक्ष के अतीत होने पर स्मृति संस्कार यदि मूढ़ हो तो दृश्य घट की अनुपलब्धि में और दृश्य घट में मूढ़ होता है। किन्तु जब घटरहित प्रदेश का प्रत्यक्ष वर्तमान होता है तब स्मृति-सस्कार का व्यामोह नहीं होता और इसलिए न घटाभाव में और न घटानुपलब्धि में

व्यामोह होता है। इसलिए स्मृति-संस्कार की अमूढ़ता प्रतिषेध्य के वर्तमान-कालिक होने पर अप्रासंगिक है क्योंकि वर्तमान अर्थ के विषय में स्मृति-संस्कार व्यवहृत नहीं होता है। इसलिए यहां विशेषण-निरपेक्ष वर्तमान का विशेषण-सहित-अतीत के साथ समुच्चय किया गया है।

इसलिए अर्थ यह हुआ—अतीत अनुपलब्धि स्पष्ट रूप से याद की जाने पर प्रमाण होती है एवम् वर्तमान अनुपलब्धि प्रमाण होती है। इसलिए यह जाना जा सकता है कि 'यहां घट नहीं था क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं हुई।' 'यहां घट नहीं है क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है।' किन्तु यह नहीं जाना जा सकता कि 'यहां घट नहीं होगा क्योंकि वह नहीं जाना जाएगा।' भविष्य की अनुपलब्धि का अस्तित्व संदिग्ध होने के कारण अनुपलब्धि को अतीत एवं वर्तमान काल से विशेषित किया गया है।

अनुपलब्धि के व्यापार को प्रदर्शित करते हैं—'नहीं है', इस प्रकार का ज्ञान —इस प्रकार का वाक्य अभाव का व्यवहार := प्रयोग या व्यावहारिक उपयोग : है। निश्शंक आने-जाने के रूप में क्रिया अभाव का शारीरिक व्यवहार है क्योंकि घटाभाव के विदित होने पर निश्शंक आना-जाना संभव होता है। इस प्रकार दृश्यानुपलब्धि इन तीनों प्रकार के अभाव व्यवहार की प्रवर्तिका है।

यद्यपि 'घट नहीं है', यह ज्ञान अनुपलब्धि से ही होता है और यही अभाव का निश्चय है, तथापि क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा केवल प्रदेश उपलब्ध होता है इसलिए 'यहां नहीं है' इस प्रकार अभाव का निश्चय प्रत्यक्ष के कार्य का अनुसरण करता है। इसलिए स्थानमात्र को ग्रहण करने का जो प्रत्यक्ष का व्यापार है उसका अनुसारी होने के कारण अभाव का निश्चय प्रत्यक्ष के द्वारा किया हुआ है। और फिर दृश्यानुपलब्धि के निश्चय करने के सामर्थ्य से ही पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्यक्ष ही अभाव को निश्चित करता है। किन्तु अदृष्ट पदार्थों के भी अस्तित्व के संभव होने के कारण उनके अस्तित्व की शंका से अभाव को व्यावहारिक नहीं बना सकता। इसलिए अनुपलब्धि अभाव को व्यवहार-योग्य करती है—'क्योंकि दृश्य अनुपलब्धि है इसलिए नहीं है।' इसलिए दृश्यानुपलब्धि निष्पादित अभाव-ज्ञान को प्रवर्तित करती है, अनिष्पादित को बनाती नहीं है। इसलिए अभाव का निश्चय अनुपलब्धि से प्रवृत्त होने पर भी प्रत्यक्ष किया जाने पर अनुपलब्धि से प्रवर्तित कहा जाता है। अतएव अनुपलब्धि को अभाव के व्यवहार की प्रवर्तिका कहा गया है।

अतीत और वर्तमान के विषय में अनुपलब्धि किस तरह ज्ञापित होती है?

सूत्र २९

उसी से अभाव के निश्चय के कारण।

'उसी से' अर्थात् उक्त कालिक अनुपलब्धि से : क्योंकि अनागत उपलब्धि स्वयं ही संदिग्ध स्वभाववाली होती है। असिद्ध होने के कारण उससे अभाव का निश्चय नहीं हो सकता। किन्तु, अतीत और वर्तमान अनुपलब्धि से ही हो सकता है।

अब अनुपलब्धि के भिन्न प्रकारों को प्रदर्शित करते हैं—

सूत्र ३०

भिन्न प्रयोगों के कारण वह ११ प्रकार की होती है।

'प्रयोग' का अर्थ है शब्द का अभिधा-व्यापार। शब्द कहीं साक्षात् दूसरी वस्तु का अभिधान करते हैं, कहीं दूसरे का प्रतिषेध करते हैं, सभी स्थलों में शब्दों के द्वारा गृहीत न होने पर भी दृश्यानुपलब्धि सूचित होती है। इसलिए अनुपलब्धि के प्रकार-भेद वाचक के व्यापार-भेद के कारण हैं, नकि स्वरूप-भेद के कारण।

प्रकार-भेद कहते हैं।

सूत्र ३१

स्वभावानुपलब्धि इस प्रकार है—यहां धूम नहीं है क्योंकि उपलब्धि लक्षण-प्राप्त उसकी उपलब्धि नहीं है।

प्रतिषेध्य का जो स्वभाव है उसकी अनुपलब्धि। 'यहां' धर्मी है। 'धूम नहीं है' यह साध्य है, 'उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त की उपलब्धि' यह हेतु है।

प्रतिषेध्य का जो कार्य है उसकी अनुपलब्धि उदाहृत करते हैं—

सूत्र ३२

कार्यानुपलब्धि इस प्रकार है—यहां धूम के अप्रतिहत सामर्थ्य वाले कारण विद्यमान नहीं हैं क्योंकि धूम का अभाव है।

क्योंकि कारण सदा कार्ययुक्त नहीं होते हैं, इसलिए कार्य के न देखने से अनुपहत सामर्थ्य वाले कारणों का ही अभाव साध्य है, अन्य प्रकार के नहीं। ऐसे अनुपहत शक्ति वाले कारण केवल अन्तिम क्षणभावी होते हैं क्योंकि और कारणों के लिए प्रतिबन्ध संभव है।

जहां कारण अदृश्य होता है वहां कार्यानुपलब्धि का प्रयोग होता है। कारण दृश्य होने पर दृश्यानुलब्धि ही हेतु बनेगी।

मान लीजिए कोई व्यक्ति धवल प्रासाद के ऊपर खड़ा घर के आंगन को न देखता हुआ भी चारों तरफ आंगन की दीवाल तक देखता है। दीवार के बराबर ही अवकाश को, जहाँ उसकी नज़र पहुंचती है : जिसे आलोक कहते हैं : धुएं से खाली देखता है। वहाँ धुएं के न होने के निश्चय से जिस स्थान में अवस्थित अग्नि के

द्वारा उत्पादित धूम उस प्रदेश में होना चाहिए उस अग्नि को—यदि वह सामर्थ्ययुक्त हो तो–अविद्यमान समझता है। उस घर के आंगन में होने वाली आग का धुंआ वहां हो सकता था। इसलिए उस स्थान में अग्नि का अभाव निश्चित होता है। दीवारों से घिरा हुआ उस घर के आंगन का प्रदेश दीवारों तक फैले हुए आलोक (धूम-रहित अवकाश) के साथ यहां धर्मी बनता है। इसलिए दृश्यमान और अदृश्यमान अवकाश के भाग, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष के समुदाय होते हुए अग्नि के अभाव की प्रतीति के लिए समर्थ होने के कारण धर्मी हैं, केवल दृश्यमान अवकाश नहीं। किन्तु यहाँ यह प्रत्यक्ष निर्देश केवल दृश्यमान भाग की अपेक्षा है।

केवल यहां ही दृश्य और अदृश्य का समुदाय धर्मी नहीं है अपितु अन्यत्र भी है। जिस समय शब्द की क्षणिकता सिद्ध करनी होती है, कोई एक शब्द प्रत्यक्ष होते हुए भी अन्य परोक्ष होता है, वैसे ही यहां भी। जैसे यहां धर्मी साध्य के ज्ञान का अधिकरणभूत दृश्य और अदृश्य विभाग वाला प्रदर्शित किया गया है, वैसे ही आगे के प्रयोगों में भी स्वयं समझना चाहिए।

व्याप्त के प्रतिषेध्य होने पर जो व्यापक धर्म है, उसकी अनुपलब्धि का उदाहरण देते हैं––

सूत्र ३३

व्यापक की अनुपलब्धि, जैसे 'यहां अशोक नहीं है क्योंकि यहां वृक्ष नहीं है।'

यहां अनुपलब्धि भी व्याप्यभूत अदृश्य अशोकत्व के अभाव में प्रयुक्त होती है। जहां व्याप्य उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त हो वहां दृश्यानुपलब्धि ही ज्ञापक होती है। मान लीजिए, साथ साथ जुड़े हुए दो समुन्नत प्रदेश हों जिनमें एक पर जंगल हो, दूसरा चट्टान से बना हो और उसमें कहीं पेड़-पौधे न हों। देखने वाला वृक्षों को देखता हुआ भी अशोक आदि भेद नहीं देख पाता है। उसके लिए वृक्ष प्रत्यक्ष हैं, अशोक आदि अप्रत्यक्ष। वह चट्टान वाले वृक्षहीन प्रदेश में वृक्षों के अभाव को दृश्यानुपलब्धि से निश्चित करता है। किन्तु अशोक के अभाव को व्यापक वृक्ष के अभाव से निश्चित करता है। ऐसे स्थान में अभाव सिद्ध करने के लिए व्यापकानुपलब्धि का प्रयोग होता है।

सूत्र ३४

स्वभावविरुद्धोपलब्धि, जैसे वहां शीतस्पर्श नहीं है क्योंकि यहां अग्नि है।

यह अनुपलब्धि भी वहां प्रयुक्त होती है जहां शीतल स्पर्श अनुभूत नहीं है, वरना दृश्यानुपलब्धि का ही प्रयोग होगा। इसलिए यहां विशेष रंग से अग्नि

दिखती है किन्तु दूर होने के कारण शीतस्पर्श होता हुआ भी अनुभव में नहीं आता, वहां इसका प्रयोग होता है।

सूत्र ३५

विरुद्ध-कार्योपलब्धि, जैसे-'यहां शीत स्पर्श नहीं है, क्योंति धुआं है'।

यहां जिसका प्रतिषेध करना है उसके विरुद्ध कार्य की उपलब्धि ज्ञापन है। 'यहां' धर्मी है। शीत-स्पर्श का अभाव साध्य है। धूम हेतु है। जहां शीत-स्पर्श न सिर्फ हो बल्कि प्रत्यक्ष किया जा सके, वहां दृश्यानुपलब्धि ज्ञापक होती है। जहां :शीत-स्पर्श के: विरुद्ध अग्नि प्रत्यक्ष हो, वहां विरुद्धोपलब्धि ज्ञापक होती है। दोनों के ही परोक्ष होने पर विरुद्ध-कार्योपलब्धि प्रयुक्त होती है।

जब सारे कमरे की ठंड को दूर करने में समर्थ अग्नि का अनुमान कराने वाली विपुल धूम-राशि को कमरे से निकलता कोई देखता है तो वह उस विशिष्ट अग्नि के अनुमान से शीत स्पर्श की निवृत्ति का अनुमान करता है। यहां दीखते हुए द्वार-देश के सहित कमरे के अन्दर का सारा भाग धर्मी है क्योंकि उससे साध्य के ज्ञान का निरूपण होता है।

सूत्र ३६

विरुद्ध-व्याप्तोपलब्धि, जैसे—सद्भूत वस्तु का भी विनाश ध्रुवभावी नहीं है, क्योंकि उसे अन्य हेतु की आवश्यकता है।

यहां प्रतिषेध्य के विरुद्ध धर्म से व्याप्त धर्मान्तर की उपलब्धि उदाहरणीय है। ध्रुवभाविता या अवश्यंभाविता का निषेध साध्य है। विनाश धर्मी है, 'सद्भूत वस्तु' उसका विशेषण है। 'भी' का अर्थ है—उत्पन्न वस्तु का भी विनश्वर स्वभाव अवश्यंभावी नहीं है, अनुत्पन्न का तो कहना ही क्या। अन्य हेतु का अर्थ है जनक हेतु से अन्य हेतु, जैसे मुद्गर आदि। विनश्वर स्वभाव उसकी अपेक्षा रखता है। यह अपेक्षा रखना ही हेतु है। अन्य हेतु की अपेक्षा (=आवश्यकता) अध्रुवभाविता := विनाशिता : से व्याप्त है जैसे कपड़े में रंग रंगाई आदि अन्य हेतु की आवश्यकता रखता है और वह आवश्यकता विनाशिता से व्याप्त है। विनाशिता और अविनाशिता विरुद्ध हैं, विनश्वर-स्वभाव विनाश अन्य हेतु की आवश्यकता रखता है। इसलिए विरुद्ध धर्म से व्याप्त अन्य हेतु की आवश्यकता दीखने से अविनाशिता का निषेध होता है।

यहां ध्रुवभाविता का अर्थ है नित्यता, अध्रुवभाविता का अनित्यता। नित्यता और अनित्यता का एक स्थान में होना विरुद्ध है क्योंकि उनकी अवस्थिति परस्पर परिहारपूर्वक होती है। ऐसा होने पर उन परस्पर परिहार वाले धर्मों में जब एक

उपलब्ध होता है तो दूसरे का निषेध करना होगा। यह स्वरूप-निषेध दृश्यतया स्वीकृत धर्म का संभव होता है क्योंकि यह निषेध इस प्रकार किया जाता है 'यदि यह दृश्य नित्य होता तो नित्यरूप देखा जाता। नित्यरूप नहीं दीखता है। इसलिए नित्य नहीं है।' इस प्रकार प्रतिषेध्य नित्यता का दृश्यमान रूप में स्वीकार कर प्रतिषेध किया जाता है। अदृश्य पिशाच आदि का भी यदि दृश्य घटादि वस्तु से तादात्म्य का निषेध किया जाता है तो वह भी उन :पिशाच आदि: वस्तुओं की दृश्यात्मकता का स्वीकार कर के ही। 'यदि यह दृश्यमान घट पिशाचात्मक होता तो पिशाच दृष्ट होता। पिशाच दृष्ट नहीं होता। इसलिए यह पिशाच नहीं है।' दृश्यात्मकता को स्वीकार करके ही दृश्यमान घट-आदि वस्तु में दृश्य अथवा अदृश्य, वस्तु अथवा अवस्तु का तादात्म्य प्रतिषिद्ध होता है। ऐसा होने पर घट के दृश्यत्व का स्वीकार कर उसका प्रतिषेध दृश्यानुपलब्धि से ही होता है, ऐसे ही परस्पर परिहारवाली सभी वस्तुओं का अन्य: = विरुद्ध: वस्तु के दीखने पर निषेध दृश्यानुपलब्धि से ही होता है। इस प्रकार ऐसा प्रयोग स्वभावानुपलब्धि के अन्तर्भूत है।

सूत्र ३७

कार्य-विरुद्धोपलब्धि, जैसे 'यहां शीत के अप्रतिहत-शक्तिक कारण नहीं हैं, क्योंकि :यहां: अग्नि है'।

प्रतिषेध्य का जो कार्य है उसके जो विरुद्ध है उसकी उपलब्धि का उदाहरण देते हैं। 'यहां' धर्मी है। शीत उत्पन्न करने के प्रति शीत के जिन कारणों की शक्ति अकुण्ठित है वे यहां नहीं है, यह साध्य है, अग्नि हेतु है।

जहां ठण्ड के कारण अदृश्य हों, और ठण्ड का स्पर्श भी उपलब्ध न किया जा सके, वहां इस हेतु का प्रयोग किया जाना चाहिए। जहां ठण्ड का स्पर्श अथवा उसके कारण उपलब्ध हों वहां कार्यानुपलब्धि या दृश्यानुपलब्धि ज्ञापक होगी।

इसलिए यह अनुपलब्धि भी अभाव को सिद्ध करती है। जिस स्थान में विद्यमान होते हुए भी ठण्ड के कारण एवं ठण्ड का स्पर्श दूर करने के कारण प्रत्यक्ष-गोचर नहीं हैं और जानने वाला व्यक्ति अग्नि को दूर से ही उसकी चमक के कारण देखता है, वहां इसका प्रयोग होना चाहिए।

सूत्र ३८

व्यापक-विरुद्धोपलब्धि—जैसे 'यहां हिम का स्पर्श नहीं है क्योंकि यहां अग्नि है'।

प्रतिषेध का जो व्यापक है उसके जो विरुद्ध है उसकी उपलब्धि यहां उदाहृत की गई है। 'यहां' धर्मी है। 'हिम का स्पर्श नहीं है' यह साध्य है। अग्नि ही हेतु है।

जहां हिमस्पर्श व्याप्य है और शीत स्पर्श व्यापक है किन्तु दोनों दृश्य नहीं हैं, वहां इस हेतु का प्रयोग होता है। जब वे दृश्य हों तो स्वभावानुपलब्धि या व्यापकानुपलब्धि प्रयुक्त होनी चाहिए। इस प्रकार यह अभाव को सिद्ध करती है। दूरवर्ती जानने वाले के लिए हिमस्पर्श विशिष्ट शीतस्पर्श है किन्तु शीत मात्र अप्रत्यक्ष है। अग्नि अपने विशिष्ट रूप के कारण दूर से भी प्रत्यक्ष होती है। इसलिए अग्नि से शीतमात्र का अभाव और उससे शीत-विशेष हिमस्पर्श का अभाव निश्चित होता है। शीत-विशेष शीत-सामान्य से व्याप्त है। इसलिए इस अनुपलब्धि का विशिष्ट विषय में प्रयोग होता है।

सूत्र ४९

कारणानुपलब्धि, जैसे 'यहां धुआं नहीं है क्योंकि यहां अग्नि नहीं है'।

प्रतिषेध्य का जो कारण है उसकी अनुपलब्धि का उदाहरण दिया गया है। 'यहां' धर्मी है। 'धुआं नहीं है', यह साध्य है। अग्नि का न होना हेतु है। जहां विद्यमान होते हुए भी कार्य दृश्य नहीं होता वहां इसका प्रयोग होता है। जहां कार्य दृश्य होता है वहां दृश्यानुपलब्धि ज्ञापक है। इसलिए यह भी अभाव को सिद्ध करती है। संध्या के झुटपुटे में निश्चल जल से लबालब तालाब के ऊपर हेमन्तोचित भाप के उठते रहने पर धुआं होने पर भी दिखाई नहीं देता, इसलिए उसका प्रतिषेध कारणानुपलब्धि से किया जाता है। यदि पानी के ऊपर तैरती हुई प्रज्ज्वलित अग्नि हो तो अपने विशिष्ट रूप से ही उपलब्ध होगी। अज्ज्वलित अग्नि इंधन के अन्दर छिपी हो सकती है वहां भी अग्नि का आधार इंधन प्रत्यक्ष है। इसलिए स्वरूप से अथवा आधार रूप से अग्नि :होगी तो: दृश्य ही होगी। वहीं उसका प्रयोग होता है।

सूत्र ४०

कारणविरुद्धोपलब्धि जैसे 'इसके रोंगटे खड़े होने आदि विक्रिया नहीं है' क्योंकि अग्नि विशेष निकट है'।

प्रतिषेध्य का जो कारण है उसके यह विरुद्ध है। उसकी उपलब्धि का उदाहरण देते हैं। 'इस' से धर्मी सूचित होता है। रोंगटे खड़े होना आदि विशेष विक्रिया अर्थात् दांत बजना आदि, जोकि ठण्ड से होते हैं। भय, श्रद्धा आदि से होने वाली विक्रिया आदि से अलग करने के लिए 'विशेष' पद रखा गया है। वे नहीं हैं,' यह साध्य है। 'अग्नि-विशेष' का अर्थ है "शीत–निवारण में समर्थ अग्नि।" कोई अग्नि होते हुए भी ठण्ड हटाने में समर्थ नहीं, जैसे दिये की अग्नि, उस प्रकार की अग्नि की निवृत्ति के लिए विशेष का ग्रहण किया गया है। जहां शीत स्पर्श होते

हुए भी अदृश्य है और रोम-हर्ष आदि विक्रिया-विशेष भी अदृश्य है वहां इसका प्रयोग होता है। रोम-हर्ष आदि विशेष के दृश्य होने पर दृश्यानुपलब्धि का प्रयोग होना चाहिए। शीत-स्पर्श के दृश्य होने पर कारणानुपलब्धि का प्रयोग होता है। इसीलिए इससे अभाव सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि रूप-विशेष के कारण दूर से अग्नि को देखता है किन्तु शीत-स्पर्श और रोमहर्ष आदि विशेष उपलभ्य नहीं हैं। उनका अभाव कारणविरुद्धोपलब्धि से जाना जाता है।

सूत्र ४१

कारणविरुद्धकार्योपलब्धि जैसे—"इस स्थान में रोम-हर्ष आदि विशेष से युक्त पुरुष नहीं हैं, क्योंकि यहां धुआं है।"

प्रतिषेध्य के कारण के जो विरुद्ध है उसके कार्य की उपलब्धि यहां उदाहृत है। यह स्थान धर्मी है। रोम-हर्ष आदि से युक्त यहां पुरुष नहीं है, यह साध्य है। धूम हेतु है।

रोम-हर्ष आदि विशेष के प्रत्यक्ष होने पर दृश्यानुपलब्धि होती है। उसके कारण शीत-स्पर्श के उपलब्ध होने पर कारणानुपलब्धि, अग्नि के प्रत्यक्ष होने पर कारणविरुद्धोपलब्धि। इन तीनों के अदृश्य होने पर वर्तमान प्रयोग होता है। जैसे दूर स्थित जानने वाले के लिए अग्नि, शीत-स्पर्श, रोम-हर्ष आदि प्रत्यक्ष न होते हुए भी जहां धूम प्रत्यक्ष होता है वहां यह प्रमाण प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार का धुआं वहां के शीत को हटाने में समर्थ अग्नि का अनुमान कराए वैसा ही ग्राह्य है क्योंकि केवल धुएं से अग्नि मात्र के अनुमान होने पर शीत-स्पर्श की निवृत्ति नहीं होती है और न रोम-हर्ष आदि की निवृत्ति निश्चित की जा सकती है। इसलिए धूम-मात्र हेतु नहीं है।

यदि प्रतिषेध का अकेला हेतु कहा गया है तो अभाव के ग्यारह हेतु किस प्रकार हुए ?

सूत्र ४२

यह सारे कार्यानुपलब्धि आदि अनुपलब्धि के दस प्रयोग स्वभावानुपलब्धि में संगृहीत हो जाते हैं।

यहां यह कहा गया है—सारे अप्रयुक्त भी प्रयुक्त उदाहरण के समान ही हैं। यदि 'दस' न कहा जाय तो 'सब' के कहने से प्रयुक्त उदाहरणों की समग्रता सूचित होती। 'दस' कहने से उदाहरणों की समग्रता ज्ञात होने पर 'सब' का कहना अतिरिक्त होता हुआ उदाहरण के सदृश सब का बोध कराता है। वे सब स्वभावानुपलब्धि में तादात्म्यपूर्वक संगृहीत होते हैं। अर्थात् उनका स्वभाव स्वभावानुपलब्धि होता है।

: शंका :—स्वभावानुपलब्धि के प्रयोग से कार्यानुपलब्धि आदि भिन्न होती हैं तो उसमें उनका अन्तर्भाव कैसे होगा ?

सूत्र ४३

प्रयोग-भेद होने पर भी परम्परया (दृश्यानुपलब्धि से नित्य-संबद्ध) अर्थान्तर के विधि और प्रतिषेध के द्वारा (उनका दृश्यानुपलब्धि में अन्तर्भाव होता है) ।

प्रयोग अर्थात् शब्द-व्यापार के भिन्न होने पर भी अन्तर्भाव होता है । प्रयोग-भेद होने पर कैसे ?

प्रतिषेध्य अर्थ से अर्थान्तर की विधि या उपलब्धि स्वभाव-विरुद्ध आदि उपलब्धि के प्रयोगों में होती है । प्रतिषेध कार्यानुपलब्धि आदि प्रयोगों में होता है । अर्थान्तर की विधि से एवं अर्थान्तर के प्रतिषेध से प्रयोग भिन्न होते हैं ।

यदि अन्य प्रयोगों में अर्थान्तर की विधि और प्रतिषेध हो तो कैसे अन्तर्भाव होगा ?

परम्परा सम्बन्ध से ।

तात्पर्य यह है—ये प्रयोग साक्षात् रूप से दृश्यानुपलब्धि का अभिधान नहीं करते, किन्तु दृश्यानुपलब्धि के अव्यभिचारी विधि और निषेध को कहते हैं । इस प्रकार परम्परा से इनका स्वभावानुपलब्धि में संग्रह होता है, साक्षात् नहीं ।

यदि प्रयोगभेद से इनका भेद है तो इन्हें परार्थानुमान में कहना चाहिए । क्योंकि प्रयोग-भेद शब्द-भेद होता है और परार्थानुमान शब्द-रूप होता है । इस पर कहते हैं—

सूत्र ४४

प्रयोग दर्शन के अभ्यास से स्वयं भी ऐसी व्यवच्छेद-प्रतीति होती है, इसलिए स्वार्थानुमान में भी इसका प्रयोग निर्दिष्ट किया गया है ।

प्रयोग-दर्शन = शास्त्रोक्त प्रयोगों की उपलब्धि । उसका अभ्यास = बार बार दुहराना । स्वयं भी = जानने वाले को अपने आप । 'ऐसी' = उक्त क्रम से । व्यवच्छेद = प्रतिषेध ।

अर्थ यह हुआ—क्योंकि स्वयं भी इस उपाय से प्रयोगाभ्यास के द्वारा अनुमान करता है, इसलिए अपने ज्ञान में भी उपयुक्त होते हुए प्रयोग-भेद स्वार्थानुमान में निर्दिष्ट है । जो दूसरे के ज्ञान के लिए ही उपयुक्त होते हैं वे परार्थानुमान में ही कहे गए हैं ।

शंका—कार्यानुपलब्धि आदि में अदृश्य कारण आदि का निषेध होता है,

अन्यथा दृश्य के निषेध होने पर स्वभावानुपलब्धि का प्रसंग होगा। ऐसी स्थिति में उनका निषेध दृश्यानुपलब्धि से नहीं होगा। तो फिर उनके प्रयोगों का दृश्यानुपलब्धि में किस प्रकार अन्तर्भाव होगा ?

सूत्र ४५

इस अभाव-व्यवहार की साधिका अनुपलब्धि में जिन स्वभाव-विरुद्ध आदि की उपलब्धि से एवं कारण आदि की अनुपलब्धि से प्रतिषेध कहा गया है वहां सर्वत्र उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त : अर्थों : की ही उपलब्धि एवं अनुपलब्धि समझनी चाहिए।

स्वभावानुपलब्धि में अभाव और उसका व्यवहार साध्य है, शेष में केवल अभाव। क्योंकि सभी अनुपलब्धियों में जिन अर्थों का प्रतिषेध कहा गया है वे उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त दृश्य अर्थ ही हैं। इसलिए वे सब अनुपलब्धियां दृश्यानुलब्धि के अन्दर हैं।

दृश्य अर्थों का ही प्रतिषेध क्यों है ?

क्योंकि स्वभाव-विरुद्ध आदि अर्थों की उपलब्धि से और कारण आदि अर्थों की उपलब्धि से प्रतिषेध कहा गया है।

ऐसा होने पर भी दृश्य अर्थों का ही प्रतिषेध क्यों है ?

क्योंकि जो परस्पर विरोधी हैं, जिनमें व्याप्य और व्यापक का संबंध है, और जिनमें कार्य और कारण का सम्बन्ध है, उनके इस रूप में विदित होने पर अवश्य ही उपलब्धि पूर्वक अनुपलब्धि ज्ञातव्य है। जिनकी उपलब्धि और अनुपलब्धि होती है वे अवश्य ही दृश्य होते हैं। इसलिए स्वभाव-विरुद्ध आदि अर्थों की उपलब्धि से और कारण आदि की अनुपलब्धि से—उपलब्धि और अनुपलब्धियुक्त विरुद्ध आदि अर्थों का किया जाता हुआ प्रतिषेध दृश्य अर्थों का ही किया समझना चाहिए।

विरुद्ध आदि प्रतिषेध्य अर्थों की उपलब्धि और अनुपलब्धि ज्ञातव्य है।

सूत्र ४६

क्योंकि अन्य अर्थों के परस्पर-विरोध,कार्य-कारण सम्बन्ध और अभाव की सिद्धि नहीं होती।

उपलब्धि और अनुपलब्धियुक्त अर्थों से अन्य जो सदा अनुपलब्ध अर्थ हैं, उनका पारस्परिक विरोध, कार्य-कारण सम्बन्ध और एक का अन्य के साथ अभाव, अर्थात् व्यापक के अभाव से व्याप्य का अभाव, सिद्ध नहीं होता है। इसलिए उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनों से ही युक्त अर्थ विरुद्ध आदि निषेध्य हैं। दोनों से युक्त दृश्य होते हैं। इसलिए दृश्य अर्थों का ही प्रतिषेध होता है।

अर्थ यह हुआ कि विरोध, कार्य-कारण भाव, और व्यापक के अभाव में

व्याप्य का अभाव दृश्यानुपलब्धि से ही होते हैं। एक के स्थित होने पर दूसरे के अभाव का निश्चय होने पर विरोध विदित होता है, जिसे कारण समझा जाता है, उसके अभाव में कार्य के अभाव के निश्चय से कार्य-कारण भाव निश्चित किया जाता है। व्यापक के अभाव में व्याप्य के अभाव के निश्चित होने पर व्याप्य-व्यापक भाव निश्चित होता है। व्याप्य-व्यापक भाव की प्रतीति का निमित्त अभाव समझना चाहिये। वृक्ष का अभाव ज्ञात होने पर अशोक का अभाव ज्ञात होता है और इस प्रकार उनका व्याप्य-व्यापक भाव निश्चित होता है। अभाव का ज्ञान सदा दृश्यानुपलब्धि से ही होता है। इसलिए विरोध, कार्य-कारण-भाव और व्याप्य-व्यापक भाव को याद करते हुए विरोध कार्य-कारण भाव और व्याप्य-व्यापक भाव के विषयभूत अभाव के ज्ञान के आधार पर दृश्यानुपलब्धि का स्मरण होता है। दृश्यानुपलब्धि के स्मरण न होने पर विरोध आदि का स्मरण नहीं होता। वैसा होने पर विरुद्ध आदि के विधि और प्रतिषेध द्वारा अन्य अर्थ के अभाव की प्रतीति नहीं होती। विरोध आदि के ग्रहण के समय में उत्पन्न होने वाली दृश्यानुपलब्धि के अवश्य स्मरणीय होने पर उसी से अभाव की प्रतीति होती है।

यद्यपि इस समय दृश्यानुपलब्धि नहीं है तो भी विरोध आदि के ग्रहण काल में जो दृश्यानुपलब्धि इस समय याद की जा रही है वही अभाव के ज्ञान का मूल है। इसलिए इस समय दृश्यानुपलब्धि नहीं है, इसलिए अभाव के साधन के रूप में कार्यानुपलब्धि आदि प्रयोग दृश्यानुपलब्धि प्रयोग से भिन्न होते हैं।

विरुद्ध अर्थ के विधान से एवं कारण आदि के निषेध से क्योंकि दृश्यानुपलब्धि अर्थाक्षिप्त होती है, इसलिए कालान्तरगत स्मृति-विषय-भूत दृश्यानुपलब्धि ही से अभाव का ज्ञान होता है। उन प्रयोगों का दृश्यानुपलब्धि में अन्तर्भाव है, इसलिए दसों अनुपलब्धि-प्रयोगों का दृश्यानुपलब्धि में परम्परया अन्तर्भाव कहा गया है।

अभाव और अभाव-व्यवहार में दृश्यानुपलब्धि प्रमाण कही गयी है। अदृश्यानुपलब्धि का क्या स्वभाव है, और क्या कार्य है?

सूत्र ४७

विप्रकृष्ट-विषयक अनुपलब्धि संशय का हेतु है क्योंकि उसका स्वभाव है प्रत्यक्ष और अनुमान की निवृत्ति।

'विप्रकृष्ट' का अर्थ है जो देश, काल और स्वभाव से अज्ञेय हो। इसलिए ऐसे विषयों में स्वभावतः प्रत्यक्ष और अनुमान का अभाव रहता है। अर्थात् उन

विषयों का स्वभाव ज्ञान-ज्ञेय नहीं है : इसलिए उन विषयों की अनुपलब्धि संशय को जन्म देती है: ।

: शंका :—प्रमाण से प्रमेय-सत्ता की व्यवस्था होती है । इसलिए प्रमाण के अभाव से प्रमेय के अभाव का निश्चय युक्त होगा ।

सूत्र ४८

प्रमाण-निवृत्ति होने पर भी अर्थाभाव सिद्ध नहीं होता ।

व्यापक-भूत कारण निवृत्ति होने पर व्याप्य भूत कार्य को निवृत्त करता है । किन्तु प्रमाण न प्रमेय का कारण है, न व्यापक । इसलिये प्रमाण की निवृत्ति से प्रमेय की निवृत्ति सिद्ध नहीं होती । अतः अदृश्यानुपलब्धि संशय-हेतु है, निश्चय-हेतु नहीं ।

यह सही है कि प्रमाण की सत्ता से प्रमेय-सत्ता सिद्ध होती है । क्योंकि प्रमाण प्रमेय का कार्य है । बिना कारण के कार्य नहीं होता, किन्तु कारण सदा कार्यवान् नहीं होते हैं । इसलिए प्रमाण से प्रमेय की सत्ता व्यवस्थापित होती है । प्रमाण के अभाव से प्रमेय के अभाव की व्यवस्था नहीं होती ।

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

परार्थानुमान

स्वार्थानुमान और परार्थानुमान की व्याख्या के अनन्तर परार्थानुमान की व्याख्या के लिए कहते हैं:—

सूत्र १

त्रिरूप लिंग का अभिधान परार्थानुमान है ।

अन्वय, व्यतिरेक और पक्षधर्मता नाम के तीन रूप हैं । इन तीनों रूपों से युक्त हेतु जिसके द्वारा प्रकाशित होता है वह है वचन या शब्द, क्योंकि वचन से ही त्रिरूप हेतु का अभिधान होता है । दूसरे के लिए होने के कारण यह परार्थ है ।

अनुमान को सम्यग्ज्ञानात्मक कहा था । अब शब्दात्मक क्यों कहा जा रहा है ?

सूत्र २

क्योंकि कारण में कार्य का उपचार:=समारोप : होता है ।

त्रिरूप हेतु के कथन से उसकी स्मृति उत्पन्न होती है और स्मृति से अनुमान । इसलिए त्रिरूप हेतु का अभिधान अनुमान का परम्परया कारण है । उस शब्द-रूप कारण में कार्यरूप अनुमान का उपचार या समारोप किया जाता है । इस समारोप से कारण-भूत वचन 'अनुमान' शब्द का वाच्य बनता है । अर्थ यह हुआ कि अनुमान-वाक्य लाक्षणिक रूप से ही अनुमान है मुख्य रूप से नहीं । 'अनुमान' शब्द से लक्षण के द्वारा जो कुछ कहा जा सकता है वह सब यहां व्याख्येय नहीं है । किन्तु, अनुमान की व्याख्या के लिए अनुमान के स्वरूप को व्याख्येय समझ कर उसका निमित्त ही व्याख्येय है । निमित्त त्रिरूप हेतु है । वह स्वयं प्रतीत होने पर अथवा दूसरे के द्वारा प्रतिपादित होने पर अनुमान का निमित्त बनता है । इसलिए हेतु का स्वरूप और उसका प्रतिपादक शब्द व्याख्येय है । स्वरूप स्वार्थानुमान में व्याख्यात हुआ है, प्रतिपादक शब्द यहां व्याख्येय है । इसलिए, प्रतिपादक शब्द को अवश्य व्याख्येय दिखाते हुए उसे अनुमान शब्द से आचार्य ने कहा है—यही मुख्य अर्थ है ।

परार्थानुमान के भिन्न प्रकार प्रदर्शित करने के लिए कहते हैं—

सूत्र ३

वह दो प्रकार का है।

वह, अर्थात् परार्थानुमान,

द्विविध क्यों है ?

सूत्र ४

प्रयोग-भेद से।

प्रयोग अर्थात् शब्द-व्यापार के भेद से। प्रयोग अथवा प्रयुक्ति का अर्थ है अर्थ का अभिधान। शब्द के अर्थाभिधान—व्यापार के भेद से अनुमान दो प्रकार का है।

इसी अभिधान-व्यापार पर आश्रित द्वैविध्य को प्रदर्शित करने के लिए कहते हैं।

सूत्र ५

साधर्म्य-युक्त और वैधर्म्ययुक्त : अभिधान का द्विविध व्यापार है : ।

समान-धर्मवाला सधर्मा कहलाता है। उसका भाव साधर्म्य है। विसदृश धर्मवाला विधर्मा और उसका भाव वैधर्म्य कहलाता है। साध्यधर्मी :—पक्ष : और दृष्टान्तधर्मी का हेतुकृत सादृश्य साधर्म्य कहलाता है। : उनका : हेतुकृत असादृश्य वैधर्म्य कहलाता है : जहां पक्षभूत धर्मी और दृष्टान्तभूत धर्मी में हेतु समान रूप से विद्यमान होता है वहां साधर्म्य होता है, अन्यथा वैधर्म्य। साधर्म्य का वाचक वाक्य-प्रयोग साधर्म्यवत् प्रयोग है । : ऐसे ही वैधर्म्य का वाचक वैधर्म्यवत् प्रयोग है। :

जिस साधन-वाक्य का अभिधेय साधर्म्य हो वह साधर्म्यवत् है, जैसे—

"जो कृतक है वह अनित्य है, जैसे घट,
वैसे ही शब्द कृतक है।
: इसलिए शब्द अनित्य है :"

यहां दृष्टान्त धर्मी : घट : और साध्यधर्मी : शब्द : दोनों में कृतकत्व हेतु के कारण सादृश्य अभिधेय है। जिसका अभिधेय वैधर्म्य है वह वैधर्म्यवत् है, जैसे—

जो नित्य है वह अकृतक देखा गया है, जैसे आकाश,
किन्तु शब्द कृतक है।
: इसलिए शब्द अनित्य है :

यहां साध्य धर्मी शब्द और दृष्टान्त धर्मी आकाश में कृतकत्व और अकृतकत्व के कारण असादृश्य अभिधेय है।

यदि इन प्रयोगों में अभिधेय भिन्न है तो इनमें वही अभिन्न त्रिरूप लिंग किस प्रकार प्रकाशित हो सकता है ?

सूत्र ६

इनमें अर्थतः कोई भेद नहीं है।

अर्थ=प्रयोजन। जिस प्रयोजन से प्रकाशनीय वस्तु को उद्दिष्ट कर ये दो अनुमान प्रयुक्त होते हैं उस प्रयोजन से इनमें भेद नहीं है। क्योंकि त्रिरूप हेतु प्रकाशनीय :=वक्तव्य : है। उसको उद्दिष्ट कर दोनों अनुमान प्रयुक्त होते हैं। दोनों से त्रिरूप हेतु व्यक्त होता है। इसलिए उनका वक्तव्य प्रयोजन अभिन्न है, उसमें भेद नहीं है।

तो फिर अभिधेय भी भिन्न नहीं होगा।

सूत्र ७

प्रयोग-भेद के अतिरिक्त : भेद नहीं है :।

प्रयोग = अभिधान=वाचकता। वाचकता के भेद से अन्य प्रयोजनकृत भेद नहीं है।

कहा जा रहा है--अभिधेय और है, प्रकाशनीय प्रयोजन और। अभिधेय की अपेक्षा वाचकता भिन्न होती है, किन्तु प्रकाशनीय : प्रयोजन : अभिन्न रहता है। अन्वय कहने पर आगे कहीं युक्ति से व्यतिरेक समझा जाता है, व्यतिरेक से अन्वय। इसलिए प्रकाशनीय त्रिरूप हेतु अभिन्न रहता है। जहां अभिधेय भिन्न होता है वहां भी सामर्थ्यलब्ध प्रयोजन (अवश्य) भिन्न नहीं होता। उदाहरण के लिए "देवदत्त मोटा है किन्तु दिन में नहीं खाता", "देवदत्त रात्रि में खाता है"—इन दो वाक्यों में अभिधेय भिन्न होने पर भी गतार्थ एक ही है, उसी प्रकार यहां अभिधेय भिन्न होने पर भी गतार्थ एक ही है।

सूत्र ८

उनमें साधर्म्यवान् प्रयोग--'अपनी उपलब्धि की सामग्री सन्निहित होने पर भी जो उपलब्ध नहीं होता वह अभाव के व्यवहार का विषय सिद्ध होता है, जैसे खरगोश के सींग आदि सुविदित अन्य अर्थ। उपलब्धि की सामग्री होने पर भी स्थान-विशेष में घड़ा उपलब्ध नहीं होता। यह अनुपलब्धि का प्रयोग है।

उन साधर्म्य और वैधर्म्य से युक्त अनुमानों में साधर्म्ययुक्त का उदाहरण देते हुए अनुपलब्धि को कहते हैं। जो दृश्य होते हुए उपलब्ध नहीं होता उसे असत् समझना चाहिए। यहां दृश्यानुपलब्धि अनुवाद्य है, असद्व्यवहार की योग्यता विधेय है। इस प्रकार असद्व्यवहार की योग्यता में दृश्यानुपलब्धि नियत कही गई है।

: यहां अभाव विधेय होने से व्यापक है, दृश्यानुपलब्धि उद्देश्य होने से व्याप्य है : अर्थ हुआ—जो दृश्य :—प्रत्यक्ष–योग्य वस्तु : अनुपलब्ध है वह असद्-व्यवहार-योग्य है। हेतु को साध्य में नियत कहना ही व्याप्ति का कथन है। जैसा हेतुबिन्दु में कहा गया है "व्याप्ति = व्यापक का वहां :—सपक्ष में : भाव ही, अथवा व्याप्य का वहां ही भाव"। दृष्टान्त व्याप्ति को सिद्ध करने वाले प्रमाण का विषय है : अर्थात् दृष्टान्त के साक्ष्य के द्वारा व्याप्ति सिद्ध होती है :। साध्यधर्मी :—पक्ष : से दृष्टान्त अन्य है। दृष्ट का अर्थ है प्रमाण से निश्चित। खरगोश का सींग देखा नहीं जाता, अपितु दृश्य होते हुए भी उसकी अनुपलब्धि से यह प्रमाणित होता है कि वह असद्व्यवहार के योग्य है। शश-विषाण आदि में दृश्यानुपलब्धि के कारण असद्-व्यवहार प्रमाण-सिद्ध है। उसी प्रमाण से इस वाक्य के द्वारा कही जाती हुई व्याप्ति ज्ञातव्य है।

व्याप्ति के पश्चात् दृश्यानुपलब्धि की पक्षधर्मता को प्रकट करते हैं। प्रदेश का अर्थ है पृथ्वी का एक देश। वह अन्य से पृथक् किया जाने के कारण विशेष है। "प्रदेश-विशेष में अर्थात् उस एक विशिष्ट स्थान में। 'कहीं' अर्थात् उस स्थान में जो ज्ञाता के लिए प्रत्यक्ष है। वही अभाव के व्यवहार का अधिकरण है जोकि ज्ञाता के लिए प्रत्यक्ष है, अन्य नहीं। 'उपलब्धि–लक्षण–प्राप्त' अर्थात् दृश्य। जिस प्रकार अविद्यमान घर की भी उपलब्धि-लक्षण-प्राप्तता कल्पित होती है, वह समझाया जा चुका है।

स्वभाव-हेतु के साधर्म्यवान् प्रयोग को दिखाने के लिए कहते हैं—

सूत्र ६

उसी प्रकार स्वभाव-हेतु का प्रयोग है–जो सत् है वह सब अनित्य है, जैसे घट आदि। : शब्द सत् है, इसलिए शब्द अनित्य है। : यह शुद्ध स्वभाव-हेतु का प्रयोग है।

'उसी प्रकार' का अर्थ है :—जैसे अनुपलब्धि का उसी प्रकार स्वभाव-हेतु का साधर्म्यवान् प्रयोग है। 'जो सत् है' इस प्रकार अस्तित्त्व का अनुवाद कर :—उद्देश्य के रूप में प्रस्तुत कर : 'वह सब अनित्य है' इस प्रकार अनित्यता का विधान किया गया है। 'सब' का ग्रहण नियमार्थक है। सब अनित्य है, ऐसा कुछ नहीं है जो अनित्य न हो। जो सत् है वह अनित्य ही है। अनित्यता के बाहर नित्यता में अस्तित्व नहीं है, इस प्रकार अनित्यता रूपी साध्य में अस्तित्व नियत है, यह ख्यापित होता है। वैसा होने पर यह व्याप्ति-प्रदर्शन का वाक्य है। 'जैसे घट आदि' यह व्याप्ति-साधक प्रमाण के विषय को बताता है। 'शुद्ध स्वभाव-हेतु का' अर्थात् निर्विशेषण स्वभाव का प्रयोग।

सविशेषण :स्वभाव हेतु को: दिखलाने के लिए कहते हैं—

सूत्र १०

'जो उत्पत्तिमान् है वह अनित्य है' इसमें ऐसे स्वभाव-हेतु का प्रयोग है जो स्वभावगत धर्म से विशेषित है।

जिसकी उत्पत्ति या स्वरूप-लाभ है वह उत्पत्तिमान् है। उत्पत्तिमत्ता का अनुवाद कर 'वह अनित्य है' इस प्रकार अनित्यता विधि बनाई गई है। और ऐसी उत्पत्तिमत्ता अनित्यता में नियत अभिहित होती है।

'स्वभावभूत धर्म' का अर्थ है तदात्मक धर्म। 'उसके भेद से' अर्थात् भेद को हेतु बना कर प्रयोग। अनुत्पन्न अर्थों से पृथक् किए जाने पर भाव उत्पन्न कहा जाता है। उसी व्यावृत्ति को जब अन्य व्यावृत्ति की अपेक्षा न रख कर कहना चाहते हैं तो वह व्यतिरिक्त-सी निर्दिष्ट होती है—'भाव की उत्पत्ति' :जब कि 'भाव' और 'उत्पत्ति' वस्तुतः परस्पर-भिन्न या अतिरिक्त-सी नहीं होते:। उस अतिरिक्त-सी उत्पत्ति के द्वारा विशिष्ट वस्तु को उत्पत्तिमान् कहा गया है। उस स्वभावभूत धर्म से भेद कल्पित कर विशेषित स्वभाव को :हेतु के रूप में: प्रयुक्त देखना चाहिए।

सूत्र ११

'जो कृतक है वह अनित्य है', यह उपाधि-भेद से :स्वभाव-हेतु का प्रयोग है:।

'जो कृतक है', उसमें कृतकत्व का अनुवाद कर अनित्यत्व की विधि है, इसलिए अनित्यत्व में कृतकत्व के नियम का अभिधान होता है और अनित्यत्व के द्वारा कृतकत्व की व्याप्ति प्रदर्शित होती है। 'उपाधि-भेद से' स्वभाव का प्रयोग, यह सम्बन्ध है। उपाधि का अर्थ है विशेषण। उसके भेद से, अर्थात् भिन्न उपाधि से, विशिष्ट स्वभाव :=हेतु: प्रयुक्त है।

यहां :=परार्थानुमान में: कभी शुद्ध :=विशेषणरहित: अर्थ कहा जाता है, कभी अनतिरिक्त विशेषण से विशिष्ट, कभी अतिरिक्त विशेषण से विशिष्ट। 'देवदत्त' यह शुद्ध :प्रयोग है:, 'लम्बे कान वाला', यह अपने से अभिन्न दो कानों से विशिष्ट :उसी का अभिधान है:, 'विचित्र (रंग बिरंगी) गाय वाला' यह अपने से अतिरिक्त विचित्र गायों से विशिष्ट :उसका अभिधान है:। इसी प्रकार 'अस्तित्व' शुद्ध :अर्थ है:, 'उत्पत्तिमत्व', अनतिरिक्त विशेषण है, 'कृतकत्व' अतिरिक्त विशेषण है।

:शंका: 'विचित्र गाय वाला' इस प्रयोग में अतिरिक्त विशेषण के वाचक 'विचित्र' और 'गाय' शब्द हैं। 'कृतक' शब्द में तो विशेषण के अवाचक शब्द का प्रयोग है।

इस शंका पर कहते हैं—

सूत्र १२

स्वभाव-निष्पत्ति में दूसरों के व्यापार की अपेक्षा रखने वाला भाव कृतक :कहलाता: है।

'दूसरों के', अर्थात् कारणों के, व्यापार की जिसे अपनी निष्पत्ति के लिए अपेक्षा हो, वह कृतक है। क्योंकि पर-व्यापारापेक्षी कृतक कहलाता है, इसलिए स्वभाव अतिरिक्त विशेषण से विशिष्ट कहलाता है। यद्यपि अतिरिक्त विशेषण-पद प्रयुक्त नहीं हुआ है, तथापि 'कृतक' शब्द में ही अतिरिक्त विशेषण अन्तर्भूत है। कृतक शब्द संज्ञा का प्रकार है क्योंकि इसमें संज्ञार्थक 'कन्' प्रत्यय लगा है। और जहां विशेषण अन्तर्भूत होता है वहां विशेषण-पद का प्रयोग नहीं होता।

कहीं विशेषण प्रतीयमान होता है :बिना पृथक् अभिधान के भी: जैसे 'किया हुआ' कहने में 'हेतुओं के द्वारा' यह प्रतीयमान होता है। वहां हेतु शब्द कभी प्रयुक्त होता है, कभी नहीं

सूत्र १३

प्रत्यय-भेद-भेदित्व :कारण-भेद से भिन्न होने का स्वभाव: आदि भी इसी प्रकार समझने चाहिएं।

विशेषण शब्द के प्रयुक्त होने का उदाहरण है 'प्रत्यय-भेद-भेदी' इस शब्द में 'प्रत्यय-भेद' शब्द। जैसे 'कृतक' शब्द। जैसे 'कृतक' शब्द भिन्न विशेषण वाले स्वभाव का अभिधान करता है ऐसे ही 'प्रत्यय-भेद-भेदित्व' प्रयत्न-पूर्वकता आदि भी भिन्न विशेषण वाले स्वभाव के अभिधायक स्वभाव-हेतु के प्रयोग समझने चाहिएं।

प्रत्ययों के भेद से, अर्थात् कारणों के भिन्न होने से, भिन्न होना जिसका स्वभाव है वह शब्द प्रत्यय-भेद-भेदी है, उसका भाव है प्रत्यय-भेद-भेदित्व। उससे शब्द का कृतकत्व सिद्ध होता है। प्रयत्नपूर्वक होने से अनित्यता सिद्ध होती है। यहां 'प्रत्यय-भेद-भेदी' इस शब्द में 'प्रत्यय-भेद' शब्द अतिरिक्त विशेषण को कहता है। 'प्रयत्नानन्तरीयक' शब्द में 'प्रयत्न' शब्द :भी अतिरिक्त विशेषण को कहता है:।

इस प्रकार स्वभाव-हेतु का त्रिविध प्रयोग प्रदर्शित किया गया है—शुद्ध, अव्यतिरिक्त-विशेषण, और व्यतिरिक्त-विशेषण।

यह इसलिए कहा गया है कि स्वभाव-हेतु के प्रयुक्त होने पर वाचक-भेद से भ्रम न हो।

सूत्र १४

'शब्द सत्तावान्, उत्पत्तिमान् अथवा कृतक है, यह पक्षधर्म का प्रदर्शन है।'

ये स्वभाव हेतु किस प्रकार के साध्य में, किस प्रकार के स्वभाव के साध्य

होने में प्रयुक्त होने चाहिएं—जिसमें संबंध सिद्ध है अथवा असिद्ध ? :जहां तादात्म्य-विलक्षण सम्बन्ध निश्चित हो अथवा निश्चित न हो: इस आशंका पर सिद्ध सम्बन्ध में ही प्रयोग होना चाहिए यह दिखलाने के लिए कहते हैं।

सूत्र १५

ये सब साधन-धर्म अपने-अपने प्रमाण से सिद्ध साधन-धर्म-मात्र के अनुगामी साध्य धर्म में ही समझने चाहिएं। :हेतु-भूत को साध्य धर्म में नियत समझने के लिए इतना पर्याप्त है कि साध्य धर्म का हेतुभूत धर्म में अन्वय प्रमाण-सिद्ध हो; स्वभाव हेतु के लिए इतना ही आवश्यक है कि हेतुभूत धर्म की विद्यमानता के साथ साध्य धर्म की विद्यमानता नियत रूप से अन्वित हो। साध्य का अतिरिक्त विशेषण होने पर भी दृष्टान्त सिद्ध होने पर हेतु का साध्य से तादात्म्य सम्बन्ध ही माना जाएगा। यहां स्वभाव-हेतु में औपाधिक हेतु भी संगृहीत है।:

साधन-धर्म ज्ञापक होने के कारण साधन है और अन्याश्रित होने के कारण धर्म है। 'मात्र' पद के निवेश से और किसी अधिक बात की अपेक्षा का निरास होता है। उसके अनुबन्ध का अर्थ है अनुगमन या अन्वय। जिसका साधन-धर्म-मात्र का अनुबन्ध सिद्ध हो, वैसा साध्य धर्म। सिद्ध किस से है····? अपने-अपने प्रमाण से। जिस साध्य धर्म का जो अपना प्रमाण है उसी प्रमाण से सिद्ध हो, यह अर्थ है। स्वभाव-हेतुओं के बहुत से भेद हैं, इसीलिए उनके :तादात्म्य: सम्बन्ध को सिद्ध करने वाले प्रमाण भी बहुत सारे हैं, इसलिए 'प्रमाणों' में बहुवचन का निर्देश है। साध्य धर्म ज्ञापनीय होने के कारण साध्य है और अन्याश्रित होने के कारण धर्म है। अर्थ यह हुआ: हेतु दीपक के समान योग्यता से ज्ञापक नहीं अपितु अविनाभाव के निश्चित होने पर ज्ञापक होता है। क्योंकि साध्य से अविनाभाविता का निश्चय ही हेतु का साध्य-प्रतिपादन का व्यापार है, अन्य कुछ नहीं।

पहले :अनुमान से पहले: बाधक प्रमाण के द्वारा हेतु का साध्य-प्रतिबन्ध निश्चित करना चाहिए, फिर अनुमान के समय में यह सामान्यतया स्मरण करना चाहिए कि हेतु साध्य के बिना नहीं हो सकता। 'कृतकत्व अनित्य स्वभाव है' उस सामान्यतया स्मृत अर्थ को फिर विशेष में युक्त किया जाता है—क्योंकि शब्द में विद्यमान यह कृतकत्व भी अनित्य स्वभाव ही है। इसमें सामान्य का स्मरण हेतु का निश्चायक ज्ञान है। शब्दगत विशिष्ट कृतकत्व के अनित्य-स्वभाव का स्मरण अनुमान ज्ञान है। ऐसा होने पर अविनाभाविता का ज्ञान ही परोक्ष अर्थ का ज्ञापक है इसलिए यह कहा गया है कि स्वभाव-हेतुओं का ऐसे साध्यधर्म में प्रयोग करना चाहिए जिसका हेतु-मात्र के साथ अन्वय निश्चित है, अन्यत्र नहीं।

यदि ऐसा है तो हेतु का साध्य के साथ सम्बन्ध निश्चित करना चाहिए,

साध्य का साधन-धर्म-मात्र का अनुबन्ध निश्चित होने पर भी क्यों ढूंढा जा रहा है, :अथवा विनीतदेव के अनुसार, साधनधर्म मात्र में साध्य का अनुबन्ध कैसे निश्चित हो सकता है :

सूत्र १६

उसी के तत्स्वभाव होने के कारण।

उसी के अर्थात् जिसका हेतुधर्म मात्र के साथ अनुबन्ध सिद्ध हो। तत्स्वभाव होने के कारण, अर्थात् हेतुभूतधर्म का स्वभाव होने के कारण, क्योंकि जो साध्यधर्म केवल हेतु-धर्म का अन्वयी है वही उस हेतुधर्म का स्वभाव है, अन्य नहीं।

ऐसा ही हो स्वभाव। किन्तु जब स्वभाव ही साध्य है तो हेतु के प्रयोग की क्या आवश्यकता है ?

सूत्र १७

क्योंकि स्वभाव हेतु है।

यहां स्वभाव ही हेतु के रूप में प्रस्तुत है, इसलिए वही साध्य बनाना चाहिए जो हेतु का स्वभाव हो। हेतु-धर्म-मात्र का अन्वयी ही स्वभाव है, अन्य नहीं।

यदि साध्यधर्म हेतु का स्वभाव है तो हेतु प्रतिज्ञा-वाक्य के अर्थ का अंग बन जायगा :अर्थात् अनुमान में सिद्ध-साधनता का दोष उत्पन्न होगा:।

सूत्र १८

उनका वस्तुतः तादात्म्य है।

हेतु और साध्य का वस्तुतः—परमार्थतः—तादात्म्य है। हेतु और साध्य का भेद समारोपित है, उनके निश्चयारूढ़ रूप में साध्य-साधनभाव होता है। परस्पर व्यावृत्ति से किए हुए समारोपित भेद के द्वारा निश्चयारूढ़ रूप भिन्न होता है, इसलिए हेतु पृथक् और साध्य पृथक् है। दूर से डाल आदि से युक्त अर्थ 'वृक्ष है' इस प्रकार निश्चित होता है, नकि 'अशोक है' इस प्रकार। किन्तु वस्तुतः जो वृक्ष है वही अशोक है, इसलिए अभिन्न वस्तु को भी निश्चय व्यावृत्ति-भेद से भिन्न प्रदर्शित करता है। इसलिए निश्चयारूढ़ रूप की अपेक्षा से हेतु व साध्य अलग-अलग हैं। इसीलिए हेतु प्रतिज्ञावाक्य के अर्थ में सम्मिलित नहीं है तथापि हेतु और साध्य का वास्तविक तादात्म्य है।

हेतु-धर्म-मात्र का अन्वयी साध्य ही स्वभाव क्यों ?

सूत्र १९

क्योंकि हेतु के रहने पर भी यदि साध्य न हो तो साध्य हेतु का स्वभाव न रहेगा।

जो जिसका अनुगमन नहीं करता वह उसकी निष्पत्ति में अनिष्पन्न रहता है और उसे हेतु का स्वभाव कहना अयुक्त है। क्योंकि निष्पत्ति और अनिष्पत्ति भाव और अभावरूप हैं। भाव और अभाव परस्पर परिहारपूर्वक स्थित होते हैं। यदि पूर्व-निष्पन्न और अनिष्पन्न अर्थों का ऐक्य हो तो वही एक अर्थ एक साथ ही भाव और अभाव रूप होगा। किन्तु परस्पर विरुद्ध भाव और अभाव की एकता युक्त नहीं है क्योंकि एकता के अभाव का अर्थ ही है विरुद्ध-धर्मों का संसर्ग।

पीछे उत्पन्न होने वाली वस्तु का कारण पहले उत्पन्न होने वाली वस्तु से भिन्न होता है। कारण भिन्न होने पर कार्य भिन्न होता है। इसलिए उत्पन्न और अनुत्पन्न अर्थों में भेद है, इस भेद का स्वरूप है विरुद्ध धर्मों से संसर्ग और इसका कारण है कारण-भेद। उनमें एकता कैसे होगी? इसलिए हेतुभूत धर्ममात्र का अन्वयी ही साध्य स्वभाव है, अन्य नहीं।

पीछे उत्पन्न वस्तु पूर्वोत्पन्न का स्वभाव न हो, किन्तु वह साध्य क्यों नहीं होगी?

सूत्र २०

व्यभिचार के सम्भव होने के कारण।

पूर्वोत्पन्न वस्तु के द्वारा पीछे उत्पन्न वस्तु के व्यभिचार अथवा परित्याग के सम्भव होने के कारण पीछे उत्पन्न वस्तु पूर्वोत्पन्न का साध्य नहीं है। इसलिए वही स्वभाव है जो केवल हेतुभूत धर्म का अनुगमन करता है। वही साध्य है। इस तरह यह ठहरता है कि स्वभाव-हेतुओं का प्रयोग उसी स्वभाव में करना चाहिए जिसका हेतु-धर्म-मात्र का अन्वय सिद्ध हो।

सूत्र २१

कार्य-हेतु का प्रयोग—जहां धूम्र है वहां अग्नि है, जैसे रसोई आदि में। और यहां धूम्र है।

प्रकरण से यह सिद्ध है कि यहां साधर्म्यवान् प्रयोग अपेक्षित है। धूम्र का अनुमान कर अग्नि को विधि रूप में प्रस्तुत किया गया है और इस प्रकार पूर्ववत् नियम (=व्याप्ति= व्यापक का वहां अस्तित्व ही) समझना चाहिए। इस उदाहरण से कार्य-कारण संबंध पर आश्रित व्याप्ति प्रदर्शित होती है।

व्याप्ति के साधक दृष्टान्त को प्रकट करने के लिए रसोई का उदाहरण है। रसोई आदि में प्रत्यक्ष और अनुपलब्धि के द्वारा कार्य-कारण संबंध रूप अविनाभाव निश्चित होता है। (दो प्रत्यक्ष और तीन अनुपलब्धियों से व्याप्ति का निश्चय होता है।)

'और यहां' आदि से साध्य-धर्मी में :=पक्ष में: पक्ष-धर्म का :=हेतु की विद्यमानता का (श्चेर्बास्की) साध्य की विद्यमानता का: उपसंहार है।

सूत्र २२

यहां भी कार्य-कारण सम्बन्ध के सिद्ध होने पर ही कारण के साध्य होने पर कार्य-हेतु वक्तव्य है।

'यहां भी', केवल स्वभाव-हेतु में नहीं, कार्य-हेतु में भी। 'सिद्ध होने पर ही' अर्थात् निश्चित होने पर ही। कार्य-कारण-भाव का निश्चय अवश्य करना चाहिए। क्योंकि यह कहा जा चुका है कि हेतु अविनाभाव के कारण ज्ञापक होता है, योग्यता मात्र नहीं। (श्चेर्बास्की =योग्यता= अनियत का कादाचित्क संबंध)।

स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि का साधर्म्यवान् प्रयोग दिखलाया जा चुका है। वैधर्म्यवान् को प्रदर्शित करने के लिए कहते हैं—

सूत्र २३

वैधर्म्यवान् का प्रयोग—जो सत् उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त होता है वह उपलब्ध होता ही है जैसे नील आदि विशेष, यहां उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त होने पर भी घट की उपलब्धि नहीं होती है—यह अनुपलब्धि का प्रयोग है।

'जो सत् उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त है' = जो सत् दृश्य है—यह अनुवाद है। 'वह उपलब्ध होता है'—यह उपलब्धि का विधान है। इससे दृश्य अर्थ का अस्तित्व प्रत्यक्ष-विषयता से व्याप्त कहा गया है। और :इससे: अनस्तित्व की निवृत्ति भी होती है। उपलब्धि का अर्थ है अस्तित्व और अनुपलब्धि की निवृत्ति। इससे साध्य की निवृत्ति का अनुवाद कर हेतु की निवृत्ति का विधान किया है। इस प्रकार साध्य की निवृत्ति के हेतु की निवृत्ति में नियत होने के कारण हेतु की निवृत्ति से उसे व्याप्त कहा गया है। यदि धर्मी में साध्य-धर्म न हो तो हेतु भी न होगा क्योंकि हेतु के अभाव से साध्य का अभाव व्याप्त है। किन्तु हेतु विद्यमान है। इसलिए व्यापक हेत्वभाव के अभाव से व्याप्त साध्याभाव का अभाव सिद्ध होने से साध्य की अवगति होती है। इसलिए वैधर्म्य के प्रयोग में हेतु के अभाव में साध्याभाव सर्वत्र नियत होता है, यह न्याय है।

स्वभाव-हेतु का वैधर्म्य-प्रयोग कहते हैं—

सूत्र २४

अनित्यता के न होने पर अस्तित्व, उत्पत्तिमत्ता अथवा कृतकता नहीं ही होती। शब्द अस्तित्ववान्, उत्पत्तिमान् अथवा कृतक होता है—यह स्वभाव हेतु का प्रयोग है।

यहां अनित्यता रूप साध्य का अभाव हेतु के अभाव में नियत कहा गया है। इससे तीनों स्वभाव-हेतुओं में साध्याभाव हेत्वभाव के द्वारा व्याप्त कहा गया है। "अस्तित्ववान्....." में तीनों का पक्षधर्मत्व प्रदर्शित किया गया है। यहां (शब्द में) व्यापक हेत्वभाव का अभाव कहा गया है। इससे व्याप्त साध्याभाव की निवृत्ति होने के कारण साध्य सिद्ध होता है।

कार्य-हेतु का वैधर्म्य-प्रयोग कहते हैं—

सूत्र २५

आग के न होने पर धुंआ नहीं ही होता। किन्तु यहां धुंआ है। यह कार्य-हेतु का प्रयोग है।

यहां भी आग का अभाव धुएं के अभाव से व्याप्त है। 'यहां धुआं है' इसमें व्यापक धूम्राभाव का अभाव कहा है। इससे व्याप्य अग्न्यभाव के अभाव सिद्ध होने पर साध्य की अवगति होती है।

:शंका: साधर्म्यवान् प्रयोग में व्यतिरेक नहीं कहा गया है। वैधर्म्यवान् में अन्वय नहीं कहा गया। ऐसे त्रिरूप हेतु का कथन कहां रहा ?

साधर्म्य के द्वारा प्रयोग होने पर अर्थ-बल से वैधर्म्य का निश्चय होता है।

सूत्र २६

साधर्म्यरूप अभिधेय से युक्त प्रयोग किए जाने पर सामर्थ्य से वैधर्म्य का—व्यतिरेक का—निश्चय होता है। इसलिए यह त्रिरूप हेतु का अभिधान है।

यद्यपि व्यतिरेक अन्वययुक्त प्रयोग से नहीं कहा गया तथापि अन्वय-वाक्य के सामर्थ्य से निश्चित होता है। कैसे ?

सूत्र २७

क्योंकि उसके :व्यतिरेक के: न होने पर साध्य के द्वारा हेतु का अन्वय नहीं होता।

बुद्धि के द्वारा निश्चित व्यतिरेक के न होने पर साध्य के द्वारा हेतु के बुद्धि-निश्चित अन्वय का अभाव होता है। अन्वय-वाक्य से साध्य में हेतु के नियम का निश्चय करने से साध्य के अभाव में हेतु की शंका नहीं होती। 'अन्यथा हेतु का साध्य-नियत होना ही निश्चित नहीं होगा। साध्य के अभाव में हेतु के अभाव का निश्चय व्यतिरेक का निश्चय है। इसलिए साध्य-नियत हेतु के कथन-सामर्थ्य से अन्वय-वाक्य में व्यतिरेक का निश्चय होता है।

सूत्र २८

वैसे ही वैधर्म्य से भी अन्वय का निश्चय होता है।

जैसे अन्वय-वाक्य में वैसे ही अर्थ के बल से वैधर्म्य के द्वारा प्रयोग में अभिहित होने पर भी अन्वय का निश्चिय होता है । कैसे ?

सूत्र २९

क्योंकि उसके := अन्वय के: न होने पर साध्य के अभाव से हेतु का अभाव सिद्ध नहीं होगा ।

बुद्धि के द्वारा अन्वय के गृहीत न होने पर साध्य के अभाव से हेतु के अभाव की सिद्धि निश्चित नहीं होगी । व्यतिरेक-वाक्य से हेतु के अभाव होने पर साध्य के अभाव को नियत समझने वाले को यह शंका नहीं करनी होगी कि हेतु के होने पर कदाचित् साध्य का अभाव हो । अथवा हेतु के अभाव में :साध्याभाव: नियतरूप से निश्चित नहीं होगा । हेतु के रहने पर साध्य के रहने का निश्चय अन्वय का निश्चय है । इसलिए हेतु के अभाव में नियत साध्याभाव के कथन के सामर्थ्य से व्यतिरेक-वाक्य के होने पर अन्वय का निश्चय होता है ।

यदि आकाश आदि के द्वारा उदाहृत साध्याभाव := अनित्यत्वाभाव: से हेत्वभाव :=सत्ताभाव: सिद्ध होता है तो भी हेतु के होने पर साध्य का होना क्यों सिद्ध होता है ? :अन्वय के अभाव में व्यतिरेक क्यों सिद्ध नहीं होता ?:

सूत्र ३०

स्वभाव-प्रतिबन्ध := व्याप्ति: के न होने पर एक के अभाव में दूसरे का नियमत: अभाव सिद्ध नहीं होता ।

स्वभावमूलक प्रतिबन्ध न होने पर साध्य के अभाव में हेतु का नियम युक्त अभाव नहीं होता ।

सूत्र ३१

वह :स्वभाव-प्रतिबन्ध: दो ही प्रकार का होता है—तादात्म्य-लक्षण और तदुत्पत्ति-लक्षण, जैसाकि कहा जा चुका है ।

वह स्वभाव-प्रतिबन्ध सभी हेतुओं का दो प्रकार का होता है । लक्षण = निमित्त । जो :हेतु: जिसमें :साध्य में: प्रतिबद्ध है, वह अर्थ :साध्य: उसका (हेतु का) प्रतिबन्ध-विषय स्वभाव अथवा कारण हो सकता है । क्योंकि अन्य किसी में प्रतिबद्धता उत्पन्न नहीं है । इसलिए वह प्रतिबन्ध दो प्रकार का कहा गया है ।

सूत्र ३२

क्योंकि अभाव को कहने के लिए प्रतिबन्ध दर्शनीय है, इसलिए अभाव का कथन प्रतिबन्ध के उपदर्शन का आवश्यक रूप में आक्षेप करता है । जो प्रतिबन्ध का उपदर्शन है वही अन्वय-वाक्य है, इसलिए अन्वय-द्वारा अथवा व्यतिरेक-द्वारा एक भी

वाक्य के प्रयोग से हेतु का सपक्ष में अस्तित्व में और असपक्ष में नास्तित्व स्थापित होता है और इसलिए दो वाक्यों का प्रयोग अनावश्यक है।

यदि स्वभाव-प्रतिबन्ध है तो निवर्त्य-निवर्तक सम्बन्ध होता है, इसलिए साध्य के अभाव में हेतु का अभाव कहने के लिए निवर्त्य और निवर्तक का प्रतिबन्ध प्रदर्शित करना आवश्यक है। क्योंकि यदि हेतु साध्य में प्रतिबद्ध हो तो साध्य के अभाव में नियम से निवृत्त हो। क्योंकि उसका प्रतिबंध प्रदर्शनीय है, इसलिए जो साध्य के अभाव में हेतु के अभाव का कथन है उससे प्रतिबन्ध का प्रतिपादन आक्षिप्त होता है। इस प्रकार जो व्याप्ति का प्रतिपादन आक्षिप्त होता है, वही अन्वय-वाक्य है। यदि प्रतिबन्ध नियत रूप में प्रकाशनीय है तो अन्वय कहना अनावश्यक होगा। क्योंकि दृष्टान्त में साक्ष्य के द्वारा प्रदर्शित प्रतिबन्ध ही अन्वय है, अन्य कुछ नहीं, इसलिए निवर्त्य और निवर्तक में प्रतिबन्ध समझना चाहिए। इस प्रकार अन्वय का ही ज्ञान होता है। क्योंकि अन्वय में व्यतिरेक का निश्चय होता है और व्यतिरेक में अन्वय का, इसलिए एक वाक्य से भी सपक्ष में अस्तित्व और असपक्ष में नास्तित्व पता चलता है। जिस वाक्य में अभिधेय होने के कारण अन्वय मुख अथवा उपाय है, वह अन्वय-मुख वाक्य है। ऐसे ही व्यतिरेक-मुख। क्योंकि एक ही वाक्य से दोनों का निश्चय होता है, इसलिए एक साधन-वाक्य में अन्वय-वाक्य और व्यतिरेक-वाक्य, दोनों का प्रयोग आवश्यक नहीं है।

शब्द का प्रयोग अर्थ-बोध के लिए होता है। यदि अर्थ की अवगति हो गई तो शब्द-प्रयोग से क्या होगा? एक ही अन्वय-वाक्य अथवा व्यतिरेक-वाक्य का प्रयोग करना चाहिए।

सूत्र ३३

अनुपलब्धि में भी'—जो उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त सत् है वह उपलब्ध होता ही है। यह कहने पर 'जो उस प्रकार उपलब्ध नहीं हो रहा वह असत् है', इस निश्चय से अन्वय सिद्ध होता है।

'अनुपलब्धि में भी' व्यतिरेक के कहने से अन्वय का निश्चय होता है। 'जो उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त सत् है'=साध्य की असद्व्यवहार-योग्यता के दृश्य-सत्ता-रूप अभाव को कहते हैं। (=साध्य के अभाव का निषेध, जो साध्य को दृश्य सत्ता का रूप देता है।) 'वह उपलब्ध होता ही है'-अनुपलब्धि के अभाव को उपलब्धि-रूप कहते हैं। इससे साध्य का अभाव हेतु के अभाव से व्याप्त प्रदर्शित होता है। यदि हेतु के होने पर साध्य का अभाव हो तो हेतु के अभाव से साध्य का अभाव व्याप्त न हो। इसलिए व्याप्ति को स्वीकार करते हुए हेतु की विद्यमानता

को साध्य की विद्यमानता से व्याप्त समझना चाहिए। इसीलिए कहते हैं—वैसा अनुपलम्यमान अर्थात् दृश्य असत् है, इस निश्चय से अन्वय-सिद्धि होती है।

सूत्र ३४

इन दोनों ही प्रयोगों में पक्ष-निर्देश :=प्रतिज्ञा एवं निगमन: आवश्यक नहीं है।

क्योंकि दोनों प्रयोगों में हेतु को साध्य-धर्म में तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति से प्रतिबद्ध समझना चाहिए, इसलिए पक्ष का निर्देश आवश्यक नहीं है। जो हेतु साध्य-नियत निश्चित है, उसी को साध्य-धर्मी में देखने से साध्य का निश्चय होता है। इसलिए साध्य-निर्देश अनावश्यक है।

इसी बात को अनुपलब्धि के प्रयोग में दिखलाते हैं—

सूत्र ३५

साधर्म्यवान् प्रयोग में भी—'जो उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त होने पर उपलब्ध नहीं होता वह असद्-व्यवहार का विषय है, यहां घट उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त होने पर भी उपलब्ध नहीं हो रहा है'—यह कहने पर सामर्थ्य से ही 'यहां घर नहीं है' यह सिद्ध होता है।

साधर्म्यवान् प्रयोग भी अपनी सामर्थ्य से ही 'इस स्थान में घट नहीं है', यह लक्षित करता है।

वह सामर्थ्य क्या है?—'जो उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त होने पर उपलब्ध नहीं होता', यह अनुपलब्धि को वाक्य का उद्देश्य बनाता है। 'वह असद्-व्यवहार का विषय है', यह अभाव-व्यवहार की योग्यता को विधेय बनाता है। ऐसा कहने से दृश्यानुपलब्धि असद्-व्यवहार-योग्यता से व्याप्त लक्षित होती है। 'उपलब्ध नहीं होता' इत्यादि से साध्य-धर्मी में हेतु का अस्तित्व व्यक्त होता है। यदि साध्य-धर्मी में साध्य-धर्म न हो तो हेतु-धर्म भी न होगा, क्योंकि हेतु-धर्म साध्य में नियत है, यह सामर्थ्य है।

सूत्र ३६

वैसे ही वैधर्म्यवान् प्रयोग में भी—'जो सद्-व्यवहार का विषय उपलब्धि-लक्षण प्राप्त होता है, वह उपलब्ध होता ही है, किन्तु वैसे यहां पर उस प्रकार का घट उपलब्ध नहीं होता'—यह कहने पर सामर्थ्य से ही 'यहां वह सद्-व्यवहार का विषय नहीं है', यह लक्षित होता है।

जैसे साधर्म्यवान् प्रयोग में वैसे वैधर्म्यवान् प्रयोग में भी सामर्थ्य से ही 'घट यहां सद्व्यवहार का विषय नहीं है', यह लक्षित होता है।

सामर्थ्य को प्रकट करने के लिए कहते हैं—'जो सद्-व्यवहार का विषय है' अर्थात् जो विद्यमान है, 'उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त'=दृश्य : यह साध्य का अभाव है। 'वह उपलब्ध होता ही है' = यह हेतु का अभाव है। इससे साध्य के अभाव की हेतु के अभाव से व्याप्ति प्रदर्शित होती है। 'वैसे नहीं'—जैसे अन्य दृश्य उपलब्ध होता है वैसा इस स्थान में 'उस प्रकार का' दृश्य घट उपलब्ध नहीं होता। इससे साध्याभाव का व्यापक अभाव साध्यधर्मी में अविद्यमान है, यह प्रदर्शित होता है। और यदि साध्यधर्म साध्यधर्मी में न हो तो हेतुधर्म भी न होगा। किन्तु हेतुधर्म है, यह सामर्थ्य है। इस सामर्थ्य से यह निश्चित होता है कि 'यहां घट नहीं है'। इसलिए यहां पक्ष-निर्देश नहीं है। इस प्रकार कार्यात्मक और स्वभावात्मक हेतुओं में भी सामर्थ्य से सम्प्रत्यय होता है, इसलिए पक्ष-निर्देश अनावश्यक है।

सूत्र ३७

किस प्रकार का :अर्थ: पक्ष :के रूप में: निर्देश्य है ?

किस प्रकार का अर्थ 'पक्ष' इस शब्द से निर्देश्य अथवा वक्तव्य है ?

सूत्र ३८

जो स्वरूप से ही स्वयं इष्ट हो और अनिराकृत हो, वह पक्ष है।

'स्वरूप से ही' =साध्यतया ही। 'स्वयं'=वादी के द्वारा। 'इष्ट'=केवल उक्त ही नहीं अपितु इष्ट भी। इस प्रकार का जो अर्थ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा अनिराकृत हो वह पक्ष कहलाता है। :न्यायकन्दली—' वचनस्य प्रतिज्ञात्वं तदर्थस्य च पक्षता'' : ।

यदि पक्ष निर्देश्य नहीं है तो अनिर्देश्य का लक्षण क्यों कहा गया है ? साधन-वाक्य के अवयव के रूप में इसका लक्षण नहीं कहा गया है अपितु कुछ लोग साध्य को असाध्य और कुछ असाध्य को साध्य मानते हैं, इसलिए उनकी विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए पक्ष का लक्षण कहा है।

''स्वरूप से इष्ट'', इसका विवरण—

सूत्र ३९

स्वरूप से अर्थात् साध्यतया इष्ट।

पक्ष का साध्यता से अन्य रूप नहीं है। इसलिए स्वरूप=साध्यत्व।

'ही' अथवा अवधारण का विवरण—

सूत्र ४०

'स्वरूप से ही' का अर्थ है साध्य के रूप में ही जो इष्ट है, नकि हेतु के रूप में भी।

:शंका: 'ही' शब्द अकेला ही विचारणीय था, उसका 'स्वरूप' शब्द के साथ प्रत्यवमर्श क्यों किया गया ?

:उत्तर: 'ही' शब्द निपात और द्योतक है। वह अन्य पद के द्वारा उक्त अर्थ की विशेषता को द्योतित करता है, इसलिए विशेष्यवाची दूसरे पद के साथ निर्दिष्ट है।

'न कि हेतु के रूप में'—जो हेतु के रूप में निर्दिष्ट है वह हेतु के रूप में इष्ट है। असिद्ध होने के कारण वह साध्य रूप में इष्ट हो सकता है। उसकी निवृत्ति के लिए 'ही' शब्द है।

इसका उदाहरण—

सूत्र ४१

जैसे 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह चाक्षुष है', इसमें शब्द की अनित्यता साध्य है और चाक्षुषता हेतु है, किन्तु वह हेतु भी असिद्ध होने के कारण साध्य है। किन्तु यहां वह साध्य के रूप में ही इष्ट नहीं है, क्योंकि हेतु के रूप में उसका अभिधान हुआ है।

यहां शब्द में चाक्षुषत्व साध्य के रूप में नियम से इष्ट नहीं है, क्योंकि हेतु के रूप में भी उक्त होने के कारण वह हेतु के रूप में ही इष्ट है।

'स्वयम्' इससे 'स्वयं' शब्द को व्याख्येय के रूप में प्रस्तुत कर उसका अर्थ कहते हैं—

सूत्र ४२—'स्वयं' अर्थात् वादी के द्वारा।

'स्वयं' शब्द 'अपने' या 'अपने द्वारा' के अर्थ में व्यवहृत होता है। यहां 'अपने द्वारा' के अर्थ में प्रयुक्त है। 'स्व'-शब्द **सम्बन्ध**-शब्द है और वादी प्रत्यासन्न है। इसलिए वादी का 'स्व' ही तृतीयार्थयुक्त अभिप्रेत है। 'स्वयं' 'वादी से', इसका पर्याय नहीं है।

यह वादी कौन है ?

सूत्र ४३

जो तब साधन कहता है।

तब=वाद के समय। अनेक वादियों के सम्भव होने पर भी स्वयं-शब्द के वाच्य वादी का यह विशेषण है।

ऐसा होने पर कहना यह हुआ कि साध्य वादी का इष्ट है। यह कहने से क्या हुआ ? इससे यह कहा जाता है कि वाद के समय स्वयं वादी जिस धर्म को सिद्ध करना चाहता है वही धर्म साध्य है, अन्य धर्म नहीं। यह कहने के कारण जो धर्म

वादी का इष्ट नहीं है वह साध्यपद से निवृत्त हो जाता है।

अन्य धर्म की साध्यता कैसे उपस्थित होती है, जिसकी निवृत्ति के लिए यह कहना आवश्यक है ?

सूत्र ४४

यद्यपि किसी शास्त्र में स्थित हो कर वादी साधन कहे तो भी शास्त्रकार के द्वारा इस धर्मी में अनेक धर्मों के अभ्युपगत होने पर भी जो धर्म स्वयं वादी सिद्ध करना चाहे वही धर्म साध्य है, अन्य धर्म नहीं,—यह उक्त होता है।

वादी ने जिस शास्त्र का अभ्युपगम किया हो उस शास्त्रकार के द्वारा साध्यधर्मी में अनेक धर्मों के स्वीकार के कारण अन्य-धर्मों की साध्यता सम्भव होती है। यहां पर विप्रतिपत्ति यह है—जिसने शास्त्र का स्वीकार किया है उसके लिए उस शास्त्र में सिद्ध सभी धर्म साध्य होने चाहिएं। यह विप्रतिपत्ति यहां निराकृत होती है। अनेक धर्मों के अभ्युपगम होने पर भी वही साध्य है जो वादी का इष्ट है, अन्य नहीं।

:शंका: हेतु शास्त्र की अपेक्षा नहीं करता, केवल वस्तु-बल से प्रवृत्त होता है। इसलिए अपेक्षणीय न होने के कारण शास्त्र में स्थित होकर वाद नहीं करना चाहिए।

ठीक है। किन्तु बहादुरी (=आहोपुरुषिका) में किसी शास्त्र को स्वीकार करके भी जब वह तर्क करता है तो भी उसका इष्ट ही साध्य होता है। यही बताने के लिए ऊपर कहा गया है।

'इष्ट' शब्द को प्रस्तुत कर व्याख्या करते हैं—

सूत्र ४५

'इष्ट' : से यह द्योतित होता है : कि जिस बात में विवाद के कारण साधन प्रस्तुत किया गया है उसकी सिद्धि चाहते हुए :वादी के द्वारा : वह : बात : शब्दतः उक्त न होने पर भी साध्य है।

जिस बात में—जैसे आत्मा में—विरुद्ध वाद प्रकान्त हो—'आत्मा नहीं है', वह आत्म-प्रतिषेध-वाद आत्म-सत्ता-वाद के विरुद्ध है क्योंकि विधि और प्रतिषेध परस्पर विरुद्ध हैं। उस विवाद के कारण साधन के उपन्यस्त होने पर आत्मा की सिद्धि चाहने वाले वादी के लिए वही साध्य ठहरता है—यह 'इष्ट' शब्द से सूचित होता है।

यद्यपि परार्थानुमान में साध्य का कथन ही युक्त है, तथापि शब्दतः उक्त न होने पर भी साध्य होता है क्योंकि वह सामर्थ्यतः उक्त है।

सूत्र ४६

विवाद के उस पर आश्रित होने के कारण ।

कहा यह जा रहा है—क्योंकि विवाद का निराकरण चाहते हुए वादी के द्वारा साधन प्रस्तुत है, इसलिए जो विवाद का अधिकरण है वही साध्य है । क्योंकि विरुद्ध बाद को हटाने के लिए साधन प्रस्तुत होता है और वह यदि साध्य न हो तो क्या साध्य कोई जाति-नियत पदार्थ होगा ?

परार्थानुमान में उक्त न होने पर भी साध्य इष्ट है । इसका उदाहरण देते हैं—

सूत्र ४७

उदाहरण—'चक्षु आदि पदार्थ हैं क्योंकि वे संघात है जैसे शयन, आसन आदि : उपभोग के : अंग । 'यहां' : इन्द्रियां : आत्मा के लिए हैं', यह न कहने पर भी उनकी आत्मार्थता साध्य है । इसलिए उक्त मात्र ही साध्य नहीं है, यह अभिहित होता है ।

आंख, कान आदि धर्मी हैं, उनकी परार्थता साध्य है । 'संघातत्व' हेतु है । 'शयन, आसन आदि' व्याप्ति के विषय का प्रदर्शन है । शयन, आसन आदि मानव उपभोग के अंग हैं और संघातरूप हैं । ऐसे ही यद्यपि इस दृष्टान्त में इन्द्रियां आत्मार्थक नहीं कही गई हैं, तो भी उनकी आत्मार्थता साध्य है ।

जैसे सांख्य का कहना है—'आत्मा है', उसके विरुद्ध बौद्ध का कहना है 'आत्मा नहीं है' । इस पर अपने वाद के विरुद्ध बौद्धवाद को लक्ष्य कर सांख्य ने विरुद्धवाद के निराकरण के लिए और अपने वाद की स्थापना के लिए हेतु प्रस्तुत किया । इसलिए अनुक्त होने पर भी आत्मार्थता साध्य है क्योंकि वही विवाद का आश्रय है । शयन, आसन आदि में जो कि मानवोपभोग के अंग हैं, आत्मार्थता का अन्वय प्रसिद्धि नहीं है । किन्तु संघात का केवल परार्थता से अन्वय सिद्ध है ।

'चक्षु आदि' में आदि के ग्रहण से विज्ञान को भी परार्थ सिद्ध करना इष्ट है । विज्ञान से पर आत्मा ही होगी । : बौद्धमत में ज्ञान परमाणु-रूप है, अतएव संघातरूप है—मल्लवादी : ।

विज्ञान अन्य का प्रयोजनकारी सिद्ध होगा, इस सामर्थ्य से चक्षु आदि की आत्मार्थता सिद्ध होगी, यह मान कर परार्थ-ग्रहण किया है । इस प्रकार इष्ट-साध्यता का अर्थ केवल शब्दत: उक्त साध्यता न होकर प्रतिवादी के लिए विवादास्पद होने के कारण वादी को जिसे सिद्ध करना चाहिए, वह उक्त हो अथवा अनुक्त होते हुए भी प्रकरण-गम्य हो, तो वह साध्य कहलाता है ।

सूत्र ४८

'अनिराकृत' यह दिखलाने के लिए है—इस लक्षण के लागू होने पर भी जो बात :वादी: सिद्ध करना चाहता है वह यदि प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रतीति अथवा स्व-वचन से निराकृत होती है तो वह पक्ष नहीं है।

जिसका निराकरण होता है अर्थात् विपरीत सिद्धि होती है, वह पक्ष नहीं है।

सूत्र ४९

इनमें प्रत्यक्ष से निराकृत का उदाहरण—'शब्द श्रोत्रग्राह्य नहीं है'।

'प्रत्यक्ष' आदि से निराकृत उन चारों में प्रत्यक्ष-निराकृत कैसा होता है? जैसे यह प्रत्यक्ष-निराकृत है, ऐसे ही अन्य भी द्रष्टव्य हैं।

'श्रोत्र से ग्राह्य नहीं है', यह प्रतिज्ञा का अर्थ है। शब्द की श्रोत्र से अग्राह्यता प्रत्यक्ष-सिद्ध श्रोत्र-ग्राह्यता से बाधित होती है।

सूत्र ५०

अनुमान से निराकृत, जैसे—'शब्द नित्य है'।

शब्द की प्रतिज्ञात नित्यता अनुमान-सिद्ध अनित्यता से निराकृत होती है।

सूत्र ५१

प्रतीतिनिराकृत जैसे—शशी चन्द्र नहीं है।

शशी चन्द्र-शब्द-वाच्य नहीं है, यह प्रतिज्ञात अर्थ है। यह प्रतीति से निराकृत है। विकल्प-विज्ञान का विषय प्रतीत अर्थ कहलाता है। प्रतीति-प्रतीतता=विकल्प-विज्ञान-विषयता। उस विकल्प-विज्ञान से जो प्रतीतिरूप है, शशी की चन्द्र-शब्द-वाच्यता सिद्ध ही है—जिसका विकल्प-विज्ञान के द्वारा ग्रहण हो सकता है, वह शब्दाकार के साथ जुड़ सकता है। जो शब्दाकार के साथ संसर्ग-योग्य है, वह सांकेतिक शब्द से कहा जा सकता है। इसलिए प्रतीतिरूप विकल्प-विज्ञान की विषयता से सिद्ध चन्द्र-शब्द-वाच्यता अचन्द्रता की बाधक है। प्रतीति स्वभाव-हेतु है। क्योंकि केवल विकल्प-विषयता की अन्वयिनी है सांकेतिक-शब्द-वाच्यता। इसलिए चन्द्र-शब्द का वाच्य स्वभाव-हेतु से सिद्ध है और वह अवाच्यता का बाधक है।

सूत्र ५२

अपनी ही उक्ति से निराकृत, जैसे 'अनुमान प्रमाण नहीं है।'

'अपनी ही उक्ति' = प्रतिज्ञा के अर्थ को कहने वाला शब्द, उससे निराकृत प्रतिज्ञार्थ साध्य नहीं होता। 'अनुमान प्रमाण नहीं है'—इसमें अनुमान का प्रामाण्य-निषेध प्रतिज्ञा का अर्थ है। वह प्रतिज्ञार्थ-वाचक वाक्य से ही बाधित होता है।

क्योंकि इस वाक्य के प्रयोग से यह सूचित होता है कि वक्ता शब्द-जन्य प्रतीति को सत्यार्थक मानता है। यदि वक्ता यह दिखाना चाहे कि 'मेरे वाक्य से तुम्हें जो अर्थ-प्रतीति होती है वह असत्य-विषयक है' तो वह वाक्य को कहेगा ही नहीं। यदि दूसरे के द्वारा ज्ञातव्य वाक्यार्थ असत्य है तो उस वाक्य का कथन निरर्थक है। जो यह कहता है 'मैं सब झूठ बोलता हूं' वह भी यह कहने में स्पष्ट बताता है कि उसका वाक्य सत्यार्थक है। यदि यह वाक्य सत्यार्थक है तो अन्य वाक्य उसके असत्यार्थक होंगे। यदि यही वाक्य उसका असत्य है तो अन्य वाक्य उसके असत्यार्थक प्रदर्शित नहीं होते हैं। और ऐसी स्थिति में उसका बोलना निष्फल होगा और उसे बोलना नहीं चाहिए। इसलिए वाक्य से उत्पन्न और वाक्य के अर्थ को अपना आलम्बन बनाते हुए ज्ञान को सत्यार्थक प्रदर्शित करते हुए ही वक्ता वाक्य उच्चारित करता है। ऐसा होने पर शब्द बाह्य-वस्तु के अविनाभावी प्रदर्शित होता है और उसके द्वारा उत्पन्न विज्ञान सत्यार्थक प्रदर्शित होता है। इस प्रकार बाह्य-वस्तु के कार्यभूत शब्द से उत्पन्न ज्ञान सत्यार्थक है, यह प्रदर्शित होने से शब्द प्रमाण कार्य-हेतु-जन्य अनुमान सिद्ध होता है।

इसलिए 'अनुमान प्रमाण नहीं है', यह कहना शब्द-जन्म प्रतीति के ग्राह्य अर्थ को असत् बताना होगा, क्योंकि असदर्थता ही अप्रामाण्य कहलाती है। शब्द का प्रयोग स्वतः यह दिखलाता है कि वाचक-शब्द वाच्य अर्थ का अविनाभावी है। (: यहां शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः वह :) अर्थ को यहां सद्भूत दिखलाता है। शब्द में अर्थ का कार्य होना कल्पित है (: वस्तुतः उनमें तादात्म्य कल्पित होता है। दुर्वेक कहते हैं कि शब्द और अर्थ के भिन्न होने के कारण उनमें नियामक सम्बन्ध कार्य-कारण का ही हो सकता है। यह तो तब होता जब उनमें वस्तु-बलोत्पन्न अविनाभाव होता। उनका अविनाभाव कल्पित तादात्म्य के कारण है : ।) इसलिए शब्द से यह अनुमान होता है कि शब्द-जन्य प्रतीति का अर्थ सद्भूत है, और यह अर्थ-सत्ता उस असत्ता की बाधक है जो प्रतिज्ञा का विषय है।

इसलिए यहां अर्थ यह है कि अपने वचन से अनुमित सत्ता के द्वारा बाध्यमान असत्ता को स्ववचन के द्वारा बोधित कहा गया है।

अन्य लोग कहते हैं— अभिप्राय के कार्य-शब्द से उत्पन्न ज्ञान अभिप्राय विषयक होता है। अर्थ के अस्तित्व को चाहता हुआ व्यक्ति ही शब्द का प्रयोग करता है। इससे प्रतिज्ञान अप्रामाण्य बाधित होता है।

किन्तु यह अयुक्त है क्योंकि यहां प्रतीति को स्वभाव-हेतु और स्ववचन को कार्य-हेतु मानना कल्पित रूप में अभीष्ट है, वास्तविक रूप में नहीं। किन्तु शब्द का अभिप्राय का कार्य होना वास्तविक है, इसलिए वह यहां गृहीत नहीं होता।

किन्तु जैसे अनुमान को न चाहते हुए धुएं को अग्नि का अविनाभावी (कोई) निश्चित नहीं करता है, वैसे ही शब्द को भी अभिप्राय का अविनाभावी निश्चित नहीं करेगा। वाह्य वस्तु के संप्रेषण के लिए शब्द प्रयुक्त होता है, इसलिए शब्द के प्रयोग में यह पूर्व स्वीकृत नहीं होता कि शब्द अभिप्राय का अविनाभावी है। और फिर अपने अभिप्राय को बतलाने के लिए शब्द नहीं कहा जाता है बल्कि बाह्य वस्तु के प्रतिपादन के लिए कहा जाता है। इसलिए शब्द के प्रयोग में पूर्व स्वीकृति इस बात की होती है कि शब्द बाह्य वस्तु का अविनाभावी है, इसलिए पहले के अनुसार व्याख्या ही निर्दोष है।

सूत्र ५३

इस प्रकार चार पक्षाभास निराकृत होते हैं।

ऐसा होने पर पहले कहे हुए चार पक्षाभास—जो कि पक्ष के समान प्रतीत होते हैं—निरस्त हो जाते हैं।

अब पक्ष के लक्षण के पदों के द्वारा व्यवच्छिन्न अर्थों को संक्षेप में बतला कर यह दिखलाना चाहते हैं कि पक्ष का क्या अर्थ होगा।

सूत्र ५४

साध्य इनके (आगे कहे हुओं के) विपरीत होता है—जो सिद्ध है, जो असिद्ध होने पर भी हेतु के रूप में अभीष्ट हो, जिसकी सिद्धि वादी के द्वारा स्वयं अनिष्ट है, जो केवल कहा गया है और जो निराकृत है। उसी स्वरूप से वादी के लिए इष्ट और अनिराकृत पक्ष अभिमत है। इस प्रकार से पक्ष का लक्षण निर्दोष प्रदर्शित होता है।

सिद्ध के विपरीत साध्य होना चाहिए। जिस अर्थ के विपरीत सिद्ध अर्थ है वह साध्य होना चाहिए। सिद्ध असिद्ध का विपरीत है, इसलिए साध्य असिद्ध होना चाहिए। किन्तु सब असिद्ध साध्य नहीं होगा बल्कि साध्य में उस असिद्ध का भी विपर्यय होना चाहिए जो कि साधन के रूप में उक्त है। ऐसे ही वादी के द्वारा जिसकी सिद्धि अभीप्सित नहीं है उस असिद्धि का भी साध्य में विपर्यय होना चाहिए। ऐसे ही उक्त मात्र और निराकृत असिद्धि का भी विपर्यय चाहिए।

जो साध्य इन पांच व्यवच्छेदों से रहित, असिद्ध, असाधन, (=हेतु-भिन्न) वादी से स्वयं सिषाधयिषित, उक्त अथवा अनुक्त, एवं प्रमाणों से अनिराकृत अर्थ हो, वही अर्थ 'स्वरूपतः ही और स्वयं इष्ट और अनिराकृत'—इन पदों से कहा गया है। यह साध्य ही पक्ष कहलाता है।

त्रिरूप हेतु को कह कर एवं प्रासंगिक पक्ष का लक्षण बता कर हेत्वाभासों को कहने के लिए प्रस्तुत करते हैं—

सूत्र ५५

त्रिरूप-हेतु का अभिधान परार्थानुमान है, यह कहा गया है। यहां उन तीन रूपों में से एक रूप के भी न कहने पर हेत्वाभास होता है।

आशय यह है—त्रिरूप-हेतु को कहना चाहते हुए वह स्पष्ट रूप से कहना चाहिए। वह स्पष्ट तब कहा जाता है जबकि उसका और उसके अभास का, दोनों का ही वर्णन किया जाय। ध्येय के 'ज्ञात होने पर उससे पृथक् उपादेय सुविज्ञात होता' है।

परार्थानुमान के त्रिरूप-हेतु का अभिधान होने पर तीन रूपों में से एक के भी न कहने पर हेतु के सदृश किन्तु अहेतु हेत्वाभास कहलाता है। तीन रूपों में कमी ही हेतु का दोष है।

सूत्र ५६

तीन रूपों के कहने पर यदि वे वादी अथवा प्रतिवादी के लिए असिद्ध हों अथवा संदिग्ध हों तो हेत्वाभास होता है।

किस एक रूप की असिद्धि में अथवा संदेह में किस नाम का हेत्वाभास होता है?

सूत्र ५७

धर्मी के साथ संबंध असिद्ध अथवा संदिग्ध होने पर असिद्ध नाम का हेत्वाभास होता है।

धर्मी के साथ धर्म का संबंध अर्थात् धर्मी में हेतु का अस्तित्व असिद्ध अथवा संदिग्ध होने पर असिद्ध होने के कारण ही हेतु धर्मी के विषय में ज्ञान उत्पन्न नहीं करता। यहां हेत्वाभास न साध्य का हेतु है, न विरुद्ध का, न संशय का, अपितु अप्रतिपत्ति का हेतु है, क्योंकि इससे किसी को ज्ञान नहीं उपजता। यह बात 'असिद्ध' नामकरण से ही समझनी चाहिए। उदाहरण देते हैं—

सूत्र ५८

जैसे—'शब्द अनित्य है' यह साध्य होने पर 'चाक्षुषत्व' दोनों के लिए असिद्ध है।

दोनों के लिए अर्थात् वादी एवं प्रतिवादी, दोनों के लिए।

सूत्र ५९

'तरु चेतन है' यह : जैनों के द्वारा : साध्य होने पर 'सब छाल के निकालने पर मरना' यह हेतु : बौद्ध : प्रतिवादी के लिए असिद्ध है क्योंकि वह विज्ञान, इन्द्रिय एवं आयु के निरोध को ही मृत्यु का लक्षण मानता है और वह : मृत्यु : वृक्षों में संभव नहीं है।

विज्ञान=चक्षु आदि से उत्पन्न ज्ञान। इन्द्रिय=रूप आदि के विज्ञान से अनुमित देहान्तर्गत अक्षि-गोलक में स्थित रूप। आयु=लोग जिसे प्राण कहते हैं। यहां आगम-सिद्ध आयु की बात युक्त नहीं है, यहां आयु प्राण-स्वभाव है। निरोध=निवृत्ति।

निरोध सत्तापूर्वक होता है। जो वृक्षों में विज्ञान का निरोध मानता है वह वृक्षों में विज्ञान को भी मानेगा। इसलिए बौद्ध के लिए वृक्षों में विज्ञान के अभीष्ट न होने के कारण उसका निरोध भी अभीष्ट नहीं है।

यह शंका हो सकती है कि पेड़ों का सूखना भी उनका मरना कहा जाता है और वह पेड़ों में सिद्ध है।

ठीक है, किन्तु यहां हेतु के रूप में वही मरण ग्राह्य है जो विज्ञान की सत्ता से व्याप्त है। विज्ञान का निरोध विज्ञान की सत्ता से व्याप्त है, सूखना मात्र नहीं। इसलिए जो मरण हेतु है वह पेड़ों में सिद्ध है। जो सूखने के रूप में मरना सिद्ध है वह हेतु नहीं है।

जैन वादी ने साध्य के द्वारा व्याप्त अथवा अव्याप्त मृत्यु का विवेक किए बिना मृत्युमात्र को हेतु कहा है। वादी ने हेतुभूत मरण को नहीं समझा और इस अज्ञान के कारण उसके लिए शुष्कता-रूप मरण वृक्षों में दीखने के कारण सिद्ध है। प्रतिवादी को पता होने के कारण असिद्ध है। यदि वादी को भी पता होगा तो उसके लिए भी असिद्ध होगा, यह नियम से कहा जा सकता है।

सूत्र ६०

'सुखादि अचेतन हैं', इस साध्य में उत्पत्तिमत्व या अनित्यत्व स्वयं सांख्यवादी के लिए असिद्ध है।

'जो उत्पत्तिशील अथवा अनित्य हैं वे चेतन नहीं हैं, जैसे रूप आदि, वैसे ही सुखादि उत्पत्तिशील अथवा अनित्य हैं, इसलिए अचेतन हैं।' किन्तु चैतन्य पुरुष का स्वरूप है। यहां उत्पत्तिमत्व और अनित्यत्व बारी-बारी से हेतु हैं, एकसाथ नहीं। वे दोनों ही सांख्यवादी के लिए असिद्ध हैं। क्योंकि हेतु का उपन्यास दूसरे के लिए किया जाता है, इसलिए जो हेतु दूसरे के लिए सिद्ध हो वही कहना चाहिए। बौद्ध के लिए असत् की उत्पत्ति ही उत्पत्तिमत्व है, और सत् का निरन्वय विनाश ही अनित्यत्व सिद्ध है। ये दोनों ही सांख्य के लिए असिद्ध हैं। यहां भी अनित्यत्व और उत्पत्तिमत्व रूप हेतु के अज्ञान के कारण वह वादी के लिए असिद्ध है। यदि अनित्यत्व और उत्पत्तिमत्व का प्रामाण्य वादी को विदित होता तो वह वादी के लिए भी सिद्ध होता, किन्तु प्रमाण के अपरिज्ञान से ही वह वादी के लिए असिद्ध है।

संदिग्धासिद्ध को प्रदर्शित करने के लिए कहते हैं—

सूत्र ६१

हेतु के स्वयं संदिग्ध होने पर अथवा हेतु के आश्रय के संदिग्ध होने पर वह असिद्ध होता है।

हेतु का आश्रय = हेतु के व्यतिरिक्त उसका आश्रयभूत साध्यधर्मी जिसमें विद्यमान हेतु ज्ञापक के रूप में स्वीकार किया जाता है।

स्वयं संदिग्ध का उदाहरण—

सूत्र ६२

जैसे अग्नि को सिद्ध करने के लिए धूम के रूप में बतलाया जाता हुआ किन्तु भाप के संदेह का विषय हेतु संदिग्धासिद्ध है।

जहां धुआं भी भाप के रूप में संदिग्ध हो वह हेतु के रूप में असिद्ध होता है, क्योंकि उसकी ज्ञापकता अनिश्चित होती है। जो धूम के रूप में निश्चित है वही अग्नि से उत्पन्न होने के कारण ज्ञापक होता है। संदिग्ध होने पर वह ज्ञापक नहीं होता, यह असिद्धता-दोष है।

आश्रयासिद्ध का उदाहरण—

सूत्र ६३

जैसे—'इस निकुंज में मोर है क्योंकि मोर की ध्वनि है।'

'यह निकुंज' धर्मी है। तिरछे निकले हुए पर्वत के ऊपरले भाग से आच्छादित भूमि-भाग निकुंज होता है। 'मोर' साध्य है। मोर की ध्वनि हेतु है।

यह आश्रयासिद्ध कैसे है?

सूत्र ६४

उस ध्वनि के आपात-देश के विषय में भ्रम सम्भव होने के कारण।

जिस स्थान से ध्वनि आती है वह आपात-देश है। बहुत से निकुंजों के निरन्तर होने के कारण केका-ध्वनि किस में से आ रही है, यह संदिग्ध रहने पर आश्रयासिद्धि है।

धर्मी के असिद्ध होने पर असिद्धता का उदाहरण—

सूत्र ६५

धर्मी के असिद्ध होने पर भी हेतु असिद्ध होता है, जैसे—'आत्मा सर्वगत है', इस साध्य में सर्वत्र-लभ्य-गुणता।

सर्वगत=व्यापी। आत्मा का व्यापित्व साध्य है और हेतु है उसका सर्वत्र-

प्राप्य-गुणत्व=सब स्थानों में जिसके सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि गुण उपलब्ध होते हैं, ऐसा स्वरूप। गुण गुणी के बिना नहीं होते क्योंकि वे गुणी में समवेत होते हैं। आत्मा निष्क्रिय है। इसलिए यदि आत्मा व्यापी नहीं होगा तो कैसे दक्षिणापथ में उपलब्ध सुख आदि मध्यदेश में उपलब्ध होंगे। इसलिए आत्मा सर्वगत है।

यहां बौद्ध के लिए आत्मा ही असिद्ध है, उसके गुणों की सर्वत्र प्राप्यता कहां सिद्ध होगी। इसलिए धर्मी में हेतु के असिद्ध होने से हेत्वाभास है। पहले में हेतु का धर्मी में आश्रयण संदिग्ध था, इसमें धर्मी ही असिद्ध है, यह दोनों का भेद है। :पहले में धर्मी वास्तविक होते हुए भी हेतु के आधार रूप में संदिग्ध है, दूसरे में धर्मी सर्वथा असिद्ध है। :

इस प्रकार धर्मी-संबद्ध हेतु के एक रूप := पक्षधर्मता: के असिद्ध होने पर असिद्ध नाम का हेत्वाभास होता है।

सूत्र ६६

ऐसे ही असपक्ष में असत्व के असिद्ध होने पर अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है।

एकान्त=निश्चय। जिससे न साध्य का निश्चय हो, न विपर्यय का, अपितु उनके विपरीत संशय हो, साध्य और उसके विपर्यय में जो संशय का हेतु हो, वह अनैकान्तिक कहलाता है।

उदाहरण—

सूत्र ६७

जैसे शब्द के अनित्यत्व आदि धर्म के साध्य होने पर प्रमेयत्व आदि धर्म, जो कि सपक्ष और विपक्ष में सर्वत्र अथवा उनके एक देश में विद्यमान है।

अनित्यत्व आदि में 'आदि' शब्द से अप्रयत्नपूर्वकता, प्रयत्नपूर्वकता और नित्यता का ग्रहण होता है। प्रमेयत्व आदि में अनित्यत्व, पुनरनित्यत्व एवं अमूर्तत्व का ग्रहण होता है। जब शब्द धर्मी हो और अनित्यत्व आदि धर्म साध्य हो तो प्रमेयत्व आदि धर्म अनैकान्तिक होता है, क्योंकि चारों का ही विपक्ष में असत्त्व असिद्ध है।

तथाहि—'शब्द अनित्य है, प्रमेय होने के कारण।'

यहां सपक्ष घट के समान विपक्ष आकाश भी प्रमेयत्व से व्याप्त है।

'शब्द अप्रयत्नपूर्वक है, अनित्य होने के कारण।'

यहां अनित्यता सपक्ष के एकदेश में है—विद्युत् आदि में है, आकाश आदि में नहीं है, किन्तु विपक्ष को व्याप्त किए है क्योंकि वह सभी प्रयत्नपूर्वक पदार्थों में है।

'शब्द नित्य है क्योंकि वह अमूर्त है'

यहां अमूर्तत्व सपक्ष और विपक्ष दोनों के ही एक देश में विद्यमान है—सपक्ष आकाश में और विपक्ष कर्म में, और दोनों के एक देश में अविद्यमान है—सपक्ष परमाणु में और विपक्ष घट आदि में क्योंकि घट, परमाणु आदि मूर्त हैं। परमाणुओं को वैशेषिक नित्य मानते हैं, इसलिए वे सपक्ष के अन्तर्गत हैं।

इस चतुर्विध पक्षधर्म का विपक्ष में असत्व असिद्ध है, इसलिए वह अनैकान्तिक है।

सूत्र ६८

हेतुः के इसी रूप के सन्देह में भी अनैकान्तिक है।

जैसे असिद्धि में अनैकान्तिक है, वैसे ही संदेह में भी।

उदाहरण

सूत्र ६९

'कोई विवक्षित पुरुष असर्वज्ञ है अथवा कामादिमान् है' यह साध्य होने पर वक्तृत्व आदि धर्म की विपक्ष से व्यावृत्ति संदिग्ध है।

असर्वज्ञता एक साध्य है, राग आदि से युक्त होना दूसरा साध्य है। वक्ता का अभिप्रेत पुरुष धर्मी है। वचन-शक्ति, उन्मेष-निमेष आदि धर्म अनैकान्तिक हैं।

असर्वज्ञत्व के साध्य होने पर सर्वज्ञता विपक्ष है। उसमें वचन-शक्ति आदि का होना अथवा न होना संदिग्ध है। इसलिए यह पता नहीं चलता कि वक्ता सर्वज्ञ है अथवा असर्वज्ञ है। अतः वक्तृत्व अनैकान्तिक है।

यह शंका हो सकती है कि जब सर्वज्ञ वक्ता उपलब्ध नहीं होता है तो सर्वज्ञ में वचन संदिग्ध कैसे हो सकता है।

सूत्र ७०

'सर्वज्ञ वक्ता उपलब्ध नहीं होता', इस प्रकार की अनुपलब्धि अदृश्य-विषयक होने के कारण सन्देह-जनक है। इसलिए वक्तृत्व आदि की असर्वज्ञ के विपर्यय से व्यावृत्ति संदिग्ध है।

सूत्र ७१

वक्तृत्व और सर्वज्ञता में विरोध न होने के कारण 'जो सर्वज्ञ है वह वक्ता नहीं होता', यह व्यतिरेक न दीखने पर भी संदेह के कारण सिद्ध नहीं होता।

यह शंका हो सकती है कि सर्वज्ञ में वक्तृत्व के अभाव को अनुपलब्धि के कारण नहीं कहते प्रत्युत उनमें विरोध के कारण कहते हैं।

यह ठीक नहीं है क्योंकि उनमें विरोध नहीं है।

'जो सर्वज्ञ है वह वक्ता नहीं है' इस व्यतिरेक में साध्याभावरूप सर्वज्ञता

अनुवाद्य है, और हेतुरूप वक्तृत्व का अभाव विधि है। इससे साध्याभाव हेत्वभाव में नियत होने के कारण हेत्वभाव से व्याप्त कहे गए हैं। इस प्रकार का व्याप्तिमान् व्यतिरेक वक्तृत्व और सर्वज्ञान में विरोध होने पर ही सिद्ध हो सकता है, किन्तु ऐसा विरोध नहीं है। इसलिए सिद्ध नहीं होता। विरोध के अभाव में संदेह होने के कारण व्यतिरेक असिद्ध रहता है।

विरोध का अभाव क्यों है ?

सूत्र ७२

पदार्थों का विरोध दो प्रकार का होता है।

सूत्र ७३

अन्य के होने पर अपने कारणों के अविकल होते हुए भी जिसका अभाव होता है उसके विरोध का निश्चय होता है। :प्रथम प्रकार:

सूत्र ७४

जैसे शीत और उष्ण स्पर्श।

सूत्र ७५

अथवा भाव और अभाव के समान जिनके लक्षण परस्पर-परिहारपूर्वक स्थित हैं। :दूसरा प्रकार:

यदि अभाव कारण-वैकल्य से है तो उससे विरोध निश्चित नहीं होता। इसलिए 'अविकल-कारण' का ग्रहण किया गया है।

किन्तु यदि किसी के सब कारण विद्यमान हैं तो उसका अभाव कैसे होगा ? और तब विरोध का निश्चय कैसे होगा ?

जिसके होने से कारण-सामग्री में वैकल्य उत्पन्न होने से कार्य का अभाव होता है उसी से कार्य का विरोध निश्चित होता है।

इस तरह जो जिसके विरुद्ध होता है वह उसका किंचित्कर होता ही है। शीत स्पर्श का जनक होकर दूसरे शीत स्पर्श के उत्पन्न होने की शक्ति को रोकता हुआ शीत स्पर्श को हटाने वाला उसका विरोधी होता है। इसलिए वह हेतुओं में कमी करता हुआ अनन्तर-निवर्त्य का उत्पादक होता है। यह साथ न टिकने देने वाला :सहानवस्थान-लक्षण: विरोध है। इसलिए विरुद्ध धर्मों के क्षण भर भी साथ रहने का परिहार करना चाहिए। दूर-स्थित धर्मों में विरोध न होने के कारण यह निवर्त्य-निवर्तक-भाव निकटस्थ धर्मों में ही सम्भव है।

इसलिए जो जिसका निवर्तक है वह उसे तृतीय क्षण में निवृत्त करता है। पहले क्षण में साथ जुटते हुए उसे असमर्थ अवस्था में डालने के योग्य बनाता है।

दूसरे क्षण में विरुद्ध को असमर्थ करता है। तीसरे में विरुद्ध के निवृत्त होने पर उसका स्थान ले लेता है।

आलोक गतिशील धर्म है और जल-तरंग-न्याय से क्रमशः देश में प्रसार करता है। वह जब अन्धकार से अविच्छिन्न आलोक-क्षण को जन्म देता है तो आलोक के समीपवर्ती अन्धकार को असमर्थ करता है। इसलिए असामर्थ्य उसकी है जिसका आलोक समीपवर्ती है। असमर्थ के निवृत्त होने पर वह प्रदेश आलोकित हो जाता है, इस क्रम से आलोक अन्धकार को हटाता है। ऐसे ही उष्ण स्पर्श शीत स्पर्श को।

जब आलोक उसी अन्धकार-प्रदेश में जन्म लेता है तब जिस क्षण से उस अन्धकार-स्थानीय आलोक का जनक-क्षण उत्पन्न होता है, उसी क्षण से अन्य अन्धकार के जनन में असमर्थ अन्धकार उत्पन्न होता है। इसलिए असमर्थावस्था का जनकत्व ही निवर्तकत्व है।

शीघ्र-निवृत्ति के स्थल में जिस क्षण में विरुद्ध धर्म जनक होता है उससे तृतीय क्षण में निवृत्ति होती है।

वस्तुतः निवर्त्य-निवर्तक-भाव एक प्रकार का जन्य-जनक-भाव ही है। और इसलिए विरोध संततियों का होता है, क्षणों का नहीं। यद्यपि सन्तान वस्तु नहीं है, तथापि सन्तानी वास्तविक है। इसलिए वास्तविक अर्थ यह है—क्षणों का विरोध नहीं है, अपितु बहुत से क्षणों का :=क्षण-समूह का: विरोध होता है। क्योंकि अग्नि के क्षणों के विद्यमान होने पर प्रवृत्त हुए भी शीत-क्षण निवृत्तिशील होते हैं, इसलिए दो सन्तानों के निवर्त्य-निवर्तक-भाव से लक्षित विरोध के होने पर भी परमाणुओं के एक स्थान में अवस्थित न होने पर उनमें विरोध नहीं होता, क्योंकि उनकी सन्ततियां परस्पर अभाव उत्पन्न नहीं करती हैं। गतिशील आलोक जिस दिशा में बढ़ता है उस दिशा में स्थित विरुद्ध सन्ततियों को हटाता है। इसलिए कमरे के एक भाग में स्थित प्रदीप की प्रभा अन्धकार के निकट होती हुई भी अन्धकार को नहीं हटाती है क्योंकि वह अन्धकार से आक्रान्त दिशा में प्रकाश के क्षणान्तर को जन्म देने में असमर्थ रहती है।

सूत्र में 'होते हुए' पद का प्रयोग कारणासामर्थ्य से उत्पादित सन्तान-निष्ठ विरोध को प्रदर्शित करने के लिए किया गया है। प्रवाह रूप में प्रवर्तमान शीत स्पर्श की सन्तति का उष्ण-सन्तति के होने पर अभाव होता है।

:शान्तभद्र ने कहा है कि विरोध काल्पनिक होता है, इसीलिए आचार्य ने विरोध-निश्चय की चर्चा की है, नकि विरोध की। इस पर धर्मोत्तर:—

जो कहते हैं कि विरोध वास्तविक नहीं है उनसे कहना चाहिए—जैसे कार्य के निष्पन्न होने पर द्विष्ठ (विरोध और विरोधक, दोनों में रहने वाला) कोई जन्य-

जनक-भाव नहीं होता किन्तु कारण-पूर्वक कार्य की वृत्ति होती है और इसलिए वह सम्बन्ध वास्तविक ही होता है, ऐसे ही वस्तु के निवृत्त होने पर कोई द्विष्ठ विरोध नहीं होता, किन्तु अग्नि के कारण शीतस्पर्श का क्षणान्तर के उत्पादन में असामर्थ्य रहता है, इसलिए विरोध भी वास्तविक है।

जिसके परिच्छिन्न =:अवधारित: किए जाने पर जिसका व्यवच्छेद होता है वह परिच्छिद्यमान भाव उस व्यवच्छिद्यमान भाव के परिहार से अपनी स्थिति लाभ करता है। 'नीले' के अवधारित होने पर नीलेपन से च्युत होना अलग कर दिया जाता है। अलग न करने पर नीलापन अनवधारित हो जाएगा। इसलिए वस्तु के भाव और अभाव परस्पर-परिहार पर प्रतिष्ठित होते हैं। नील से जो अन्यरूप है वह नील के अभाव का अव्यभिचारी है। पीत आदि के उपलब्ध होने पर दृश्य : = कल्पित: नील की अनुपलब्धि से उसके अभाव का निश्चय होता है। जैसे नील अपने अभाव का परिहार करता है वैसे ही अपने अभाव के अव्यभिचारी पीत आदि का भी। इसलिए भाव और अभाव का साक्षात् विरोध है, और वस्तुओं का परस्पर अभाव के अव्यभिचारी होने के कारण विरोध है।

अन्यत्र किसके अभाव का निश्चय होता है ? जो अर्थ नियताकार है, उसके, नकि क्षणिकत्व आदि के समान अनियत आकार वाले अर्थ का। क्योंकि क्षणिकत्व सभी नील आदि का स्वरूपात्मक है, इसलिए नियताकार नहीं है, क्योंकि क्षणिकत्व को छोड़कर तो कुछ भी उपलब्ध नहीं होता।

यदि ऐसा है, तो शंका हो सकती है कि अभाव भी नियताकार नहीं है। किस प्रकार नियताकार नहीं है ? वस्तु का जैसा रूप है उससे विविक्त आकार का अभाव कल्पित होता है—वैसा दृष्ट अथवा कल्पित नियत रूप अन्यत्र नहीं है, यह व्यवसित किया जाता है, अनियत रूप अन्यत्र नहीं है, ऐसा नहीं। नित्यत्व अथवा पिशाच आदि के अभाव के निर्णय में भी वे नियताकार ही कल्पित किए जाते हैं।

यह विरोध एकात्मकता का अभाव है। जिनका परस्पर-परिहार-पूर्वक अवस्थान है उनकी एकता का अभाव है। इसलिए यह विरोध लाक्षणिक (लक्षणमूलक) कहा जाता है। वस्तुओं का लक्षण अथवा रूप ही इस भेद का हेतु है। क्योंकि इस विरोध से ही वस्तु-तत्व के विभाजन की व्यवस्था होती है। इसलिए दृश्यमान रूप में जिसका निषेध होता है वह दृश्य को स्वीकार करके ही होता है। उदाहरण के लिए—जब पीत में अभाव अथवा पिशाच का निषेध इष्ट हो तो वह दृश्य रूप में ही निषेध होता है। दृश्यत्व का स्वीकार करके दृश्यानुपलब्धि से ही निषेध किया जाता है। ऐसा होने पर एक में रूप के निर्धारित होने पर उसका दृश्य अभाव व्यवच्छिन्न होता है। जो उसके अभाव से युक्त नियताकार रूप है वह भी दृश्य

ही व्यवच्छिन्न होता है। अपने अभाव के समान अभाववान् भी व्यवच्छिन्न होते हैं, इसलिए जो सब परस्पर-परिहार से स्वरूप-लाभ करते हैं उनका एकत्व निषिद्ध होता है। इस विरोध के होने पर भी एक देश में सहावस्थान हो सकता है।

इसलिए इन विरोधों का अलग-अलग व्यापार है। एक विरोध से शीत और उष्ण स्पर्श का एकत्व निवारित होता है। दूसरे से उनका सहावस्थान। इन विरोधों के विषय भी भिन्न हैं। सब वस्तुओं में और अवस्तुओं में परस्पर-परिहारात्मक विरोध होता है। कुछ वस्तुओं में ही सहानवस्थान रूप विरोध होता है। इसलिए उनके व्यापार और विषय भिन्न हैं। और इसलिए उनका परस्पर अन्तर्भाव नहीं होता।

सूत्र ७६

वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व में वैसा दोनों प्रकार का ही विरोध सम्भव नहीं है।

यदि सर्वज्ञता के कारण अविकल हों तो वक्तृत्व के होने से उसके अभाव का निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वज्ञता अदृश्य है और अदृश्य के अभाव का निश्चय नहीं होता। इसलिए उससे विरोध का निश्चय नहीं होता।

न वक्तृत्व को छोड़ कर ही सर्वज्ञता की स्थिति है। क्योंकि काठ आदि भी वक्तृता का परिहार करते हैं। उनके लिए भी सर्वज्ञता प्रसक्त हो जायगी। और न सर्वज्ञता को छोड़ कर ही वक्तृता अवस्थित है, अन्यथा लकड़ियों में भी वक्तृत्व का प्रसंग उत्पन्न होगा। इसी अविरोध के कारण वक्तृत्व-विधि से सर्वज्ञत्व-निषेध नहीं होता है।

यह आशंका हो सकती है—यदि उनका घट और पट के समान विरोध नहीं है तो उनकी सहावस्थिति की उपलब्धि हो सकती है, किन्तु होती नहीं है, इसलिए उनका विरोध निश्चित होता है और विरोध से अभाव।

सूत्र ७७

अनुपलब्धि न होने पर भी विरुद्ध-विधि नहीं होती, इसलिए अभाव का निश्चय नहीं होता।

यद्यपि सहावस्थान की उपलब्धि नहीं होती तो भी उनमें विरोध नहीं है। क्योंकि विरोध साथ अनुपलब्धि मात्र से नहीं, अपितु दोनों के उपलब्ध होने पर उनके निवर्त्य-निवर्तक-भाव के अध्यवसाय से पता चलता है। इसलिए अनुपलब्धि होने पर वक्तृत्व की विधि से विरोध की विधि सिद्ध नहीं होती। ऐसे ही वक्तृत्व से रागादिमत्व का निश्चय नहीं होता। यदि वचनादि रागादि का कार्य होता तो वचनादि से रागादि का निश्चय होता। रागादि की निवृत्ति में वचनादि की निवृत्ति

होती। किन्तु वचनादि कार्य नहीं है, क्योंकि

सूत्र ७८

रागादि और वचनादि का कार्य-कारण-भाव असिद्ध है।

वचन रागादि का कार्य न हो, सहचारी तो होता है। इसलिए सहचारी रागादि के निवृत्त होने पर वचन निवृत्त हो जायगा, इस आशंका पर कहते हैं—

सूत्र ७९

कारण-भिन्न अन्य वस्तु के अभाव से वचनादि का अभाव सिद्ध नहीं होता।

सूत्र ८०

इसलिए वचनादि व्यतिरेक के संदिग्ध होने के कारण अनैकान्तिक है।

सूत्र ८१

दोनों रूपों में विपर्यय सिद्ध होने पर हेतु विरुद्ध है।

सूत्र ८२

किन दोनों में ?

सूत्र ८३

सपक्ष में सत्व और असपक्ष में असत्व— :इन दो में:। जैसे—नित्यत्व के साध्य होने पर कृतकत्व और प्रयत्नपूर्वकत्व विरुद्ध हेत्वाभास है।

कृतकत्व स्वभाव हेतु है, प्रयत्नानन्तरीयकत्व कार्य हेतु है। 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' शब्द से प्रयत्नानन्तर जन्म और ज्ञान प्रयत्नानन्तरीयक कहे जाते हैं। जन्म जायमान का स्वभाव है, ज्ञान ज्ञेय का कार्य है। यहां प्रयत्नानन्तर ज्ञान का ग्रहण होता है, इसलिए कार्य-हेतु है।

नित्यत्व के साधन के लिए ये हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हैं। क्यों ?

सूत्र ८४

इनमें सपक्ष में असत्व एवं असपक्ष में सत्व होने से :साध्य का: विपर्यय निश्चित होता है।

सूत्र ८५

साध्य के विपर्यय को सिद्ध करने के कारण ये विरुद्ध हेतु हैं।

साध्य नित्यत्व है, उसके विपरीत अनित्यत्व को सिद्ध करते हैं—इसलिए विरुद्ध हैं।

सूत्र ८६-६२

यहां शंका हो सकती है कि :आचार्य दिङ्नाग ने: एक तीसरे प्रकार का भी विरुद्ध हेतु कहा है : इष्ट-विघातकृत्, यथा-'चक्षु आदि परार्थ हैं, संहत होने के कारण, जैसे शयन, आसन आदि अंग'। यह हेतु :सांख्य के अभीष्ट: असंहत-परार्थता के विपरीत सिद्ध करने के कारण विरुद्ध है। वह :तृतीय विरुद्ध हेतु: यहां क्यों नहीं कहा गया ? क्योंकि उसका इन्हीं में अन्तर्भाव होता है। वह इनसे साध्य के विपर्यय की साधकता में भिन्न नहीं है, क्योंकि साध्यता में इष्ट और उक्त में कोई भेद नहीं है।

:प्रदर्शित अनुमान में: चक्षु आदि धर्मी हैं। परार्थता साध्य है। परार्थ = अन्य है प्रयोजन जिसका, अर्थात् जिसका प्रयोजक, संस्कार्य अथवा उपकर्तव्य, अन्य है। संघात = संचित-रूपता-हेतु है। चक्षु आदि परमाणु-संचय रूप हैं, इसलिए संघात-रूप कहे जाते हैं। शयन-आसन आदि पुरुषोपभोग के अंग हैं। यह व्याप्ति का प्रदर्शक दृष्टान्त है। यहां परार्थता से संहतत्व व्याप्त है। क्योंकि संघात-रूप शयन, आसन आदि भोक्ता पुरुष के उपकारक होते हैं, इसलिए परार्थ कहलाते हैं।

हेतु इष्ट-विघात-कृत कैसे है ? 'आत्मा है', यह कहता हुआ सांख्य बौद्ध द्वारा पूछा जाता है 'इसमें हेतु क्या है ?'। और उत्तर में प्रमाण देता है—चक्षु आदि में असंहत आत्मा की उपकारकता साध्य है। किन्तु वह हेतु साध्य-विपर्यय से व्याप्त है। क्योंकि जो जिसका उपकारक होता है वह उसका जनक होता है, और जन्यमान युगपत् अथवा क्रम से संहत होता है। इसलिए चक्षु आदि परार्थ होने में संहत-परार्थ बन जाते हैं।

प्रतिवादी का जो जिज्ञासित है वह प्रकरणापन्न है। जो प्रकरणापन्न है वह साधन की इच्छा का विषय साध्य रूप से इष्ट है, उक्त हो अथवा अनुक्त। इसलिए भेद नहीं है।

सूत्र ६३

दोनों रूपों में एक की असिद्धि और दूसरे के सन्देह होने पर हेतु अनैकान्तिक होता है।

सूत्र ६४

यथा—'कोई पुरुष वीतराग अथवा सर्वज्ञ है, क्योंकि वह वक्ता है।' यहां व्यतिरेक असिद्ध है, अन्वय संदिग्ध है।

अपने ही में सरागता और असर्वज्ञता मिलते हैं और इन विपक्षों में वक्तृत्व प्रत्यक्ष है।

सूत्र ९५

सर्वज्ञता और वीतरागता के अतीन्द्रिय होने के कारण वहां वचन की सत्ता अथवा असत्ता सन्दिग्ध है ।

सूत्र ९६

इन दोनों ही रूपों में सन्देह होने से अनैकान्तिक हेतु होता है ।

सूत्र ९७

जैसे—'जीवित शरीर आत्मयुक्त है, क्योंकि वह प्राणादिमान् है ।'

आत्मयुक्तता साध्य है, शरीर धर्मी है, 'जीता होना' धर्मी का विशेषण है क्योंकि मृत शरीर में आत्मा इष्ट नहीं है । प्राण आदि = सांस लेना, पलकें झपकाना आदि ।

यहां असाधारण संशय-हेतु उपपाद्य है । पक्ष-धर्म दो कारणों से संशय-हेतु होता है । जो दो आकार संशय के विषय हैं उनके द्वारा सब वस्तु के संगृहीत होने से, उन दोनों व्यापक आकारों में से एक में भी हेतु की विद्यमानता के अनिश्चय से । क्योंकि जिन दो आकारों से सारी वस्तु का संग्रह नहीं होता उन दो आकारों में संशय नहीं होता । किसी अन्य प्रकार के संभव होने पर पक्षधर्म धर्मी को दोनों में से एक धर्म से अवियुक्त न दिखला सकेगा और इसलिए संशय हेतु नहीं होगा । दो धर्मों में अनिर्धारित अर्थ को दर्शित करने से संशय उत्पन्न होता है । किन्तु दोनों में अनियत अर्थ को भी प्रदर्शित करने में असमर्थ हेतु अप्रतिपत्ति का हेतु होता है । नियत अर्थ को दर्शित करता हुआ हेतु सम्यक् हेतु होगा अथवा विरुद्ध होगा । इसलिए जिन दो आकारों से सब वस्तु संगृहीत हो जाती है उनमें यदि एक में भी अस्तित्त्व का निश्चय न हो तो संशय उत्पन्न होता है । अस्तित्व का निश्चय होने पर यदि एक में नियत सत्ता का निश्चय हो तो सम्यक् अथवा विरुद्ध हेतु होगा । अनियत सत्ता के निश्चय होने पर साधारण-अनैकान्तिक होगा जिसकी कि विपक्ष से व्यावृत्ति संदिग्ध है, अथवा अन्वय संदिग्ध है, अथवा व्यतिरेक असिद्ध है किन्तु एक में भी वृत्ति के अनिश्चित होने पर असाधारण-अनैकान्तिक होता है । इसलिए असाधारण-अनैकान्तिक हेतु की अनैकान्तिकता में हेतु प्रदर्शित करने के लिए कहते हैं—

सूत्र ९८

क्योंकि सात्मक और निरात्मक से अतिरिक्त राशि नहीं है जिसमें यह प्राणादि हेतु विद्यमान हो ।

सूत्र ९९

क्योंकि आत्मा की विद्यमानता और अविद्यमानता से सब संगृहीत हो जाता है।

सूत्र १००

और न इन दोनों में से एक में हेतु के अस्तित्व का निश्चय होता है।

दोनों राशियों को छोड़कर प्राणादि नहीं रहता क्योंकि वह वस्तु-धर्म है। इसलिए इतना ही ज्ञात हुआ कि वह इन दो में ही रहता है। उनमें से किसमें रहता है यह निश्चित नहीं है।

सूत्र १०१

सातमक अथवा अनातमक रूप में प्रसिद्ध वस्तु में प्राणादि धर्म सिद्ध नहीं है।

सातमकता अथवा अनातमकता से विशिष्ट रूप में निश्चित वस्तु में उन वस्तु-व्यापी दो प्रकारों में से एक में प्राणादि धर्म के नियत अस्तित्व के असिद्ध होने के कारण हेतु अनैकान्तिक है क्योंकि वह अनिश्चित है। इस प्रकार, साधारण धर्म की अनैकान्तिकता में दो कारण कहे गए हैं। पक्ष-धर्म होने पर सभी अनैकान्तिक हेतु साधारण अथवा असाधारण होते हैं। इसलिए उपसंहार के बहाने पक्षधर्मता को दर्शित करते हैं।

सूत्र १०२

इसलिए जीते हुए शरीर से संबंध रखने वाले प्राणादि सातमक और अनात्मक सबसे व्यावृत्त होने पर असिद्ध होने के कारण उनसे व्यतिरिक्त नहीं होते हैं।

वस्तु धर्म में सब वस्तुओं को व्याप्त करने वाले दो प्रकारों में से एक में नियत हुआ अस्तित्व निश्चित होने पर प्रकारान्तर में से निवृत्त होता है। प्राणादि तो किसी घट आदि से निवृत्त होता ही है। इसलिए इतना ही निश्चय किया जा सकता है कि सातमक अथवा अनातमक कुछ वस्तुओं में उसका अभाव है। किन्तु सबमें उसका अभाव है यह निश्चित नहीं होता। इसलिए व्यतिरेक नहीं सिद्ध होता।

यदि ऐसा हो तो उनमें अन्वय निश्चत हो।

सूत्र १०३

उनमें : 'सातमक अथवा अनातमक अर्थ में: अन्वय नहीं है' प्राणादि का:।

सूत्र १०४

क्योंकि सात्मक अथवा अनात्मक एक में भी वह सिद्ध नहीं है।

वस्तुधर्म होने के कारण उन दोनों में अथवा एक में प्राणादि रहता है, यही निश्चित नहीं हुआ है, यह निश्चित नहीं हुआ है कि सात्मक में ही अथवा निरात्मक में ही रहता है। तो फिर अन्वय का निश्चय कैसे हो?

यह शंका हो सकती है कि बौद्ध प्रतिवादी के लिए कुछ भी सात्मक नहीं है। इस कारण सात्मक में न अन्वय है न व्यतिरेक है। इसलिए सात्मक में अन्वय और व्यतिरेक के अभाव का निश्चय है, नकि उसके अस्तित्व का संशय। इस पर कहते हैं—

सूत्र १०५

उसके अन्वय और व्यतिरेक के अभाव का निश्चय न सात्मक में है न अनात्मक में।

सूत्र १०६

क्योंकि एक के अभाव का निश्चय दूसरे के भाव के निश्चय का अव्यभिचारी है।

अन्वय अथवा व्यतिरेक में एक के अभाव का निश्चय दूसरे के भाव के निश्चय के बिना नहीं रहता। इसलिए दोनों के अभाव का निश्चय एकसाथ नहीं हो सकता।

सूत्र १०७

क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक परस्पर अभावरूप हैं, इसलिए अन्वय और व्यतिरेक में संदेह होने के कारण अनैकान्तिकता है।

अन्वय और व्यतिरेक भाव और अभाव हैं जोकि परस्पर व्यवच्छिन्न हैं। जिसके व्यवच्छेद से जो परिच्छिन्न होता है वह उसके परिहार के द्वारा व्यवस्थित होता है। अस्तित्व अपने अभाव के व्यवच्छेद से परिच्छिन्न या निर्धारित होता है। इसलिए भाव अपने अभाव के व्यवच्छेद से ही व्यवस्थित होता है क्योंकि अभाव नीरूप होता है जैसाकि विकल्प से पता चलता है और नीरूपता का व्यवच्छेद कर रूप आकारवान् परिच्छिन्न होता है। ऐसा होने पर अन्वय के अभाव में व्यतिरेक और व्यतिरेक के अभाव में अन्वय होता है और एक के अभाव के निश्चय में दूसरे के अभाव का निश्चय होता है। इसलिए यदि सात्मक अवस्तु है और निरात्मक वस्तु है तो भी उनमें प्राणादि के अन्वय, व्यतिरेक के अभाव का निश्चय नहीं होता। एक वस्तु में उसी वस्तु का एकसाथ अस्तित्व और नास्तित्व न हो सकने के कारण

उन दोनों के अभाव का निश्चय अयुक्त है, और न प्रतिवादी के अनुरोध से सात्मक और अनात्मक वस्तु सत् और असत् होती है, बल्कि प्रमाण के अनुरोध से। इसलिए दोनों संदिग्ध हैं। इसलिए दोनों में ही प्राणादि के होने और न होने का संशय है।

अनैकान्तिक क्यों है ?

सूत्र १०८

क्योंकि :अन्वय और व्यतिरेक के संदिग्ध होने के कारण: साध्य और साध्येतर में निश्चय का अभाव है।

सपक्ष और विपक्ष में अस्तित्व और नास्तित्व का संदेह होने पर न साध्य की सिद्धि होती है, न विरुद्ध की। और न सात्मक एवं निरात्मक के अतिरिक्त कोई और प्रकार सम्भव है। इसलिए जीवन्त शरीर रूपी धर्मी में प्राणादि-युक्त होने के कारण आत्मा के अस्तित्व और नास्तित्व में संशय रहता है, और इसलिए प्राणादि अनैकान्तिक हेतु है।

हेतु के तीन रूपों में असिद्ध एवं सन्देह के होने पर हेतु के दोषों को बता कर उपसंहार करते हैं—

सूत्र १०९

इस प्रकार इन तीन रूपों में एक-एक अथवा दो-दो रूपों में असिद्धि अथवा सन्देह के होने पर यथायोग्य असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक नाम के तीन हेत्वाभास होते हैं।

सूत्र ११०

विरुद्धाव्यभिचारी को संशय-हेतु कहा गया है। वह यहां क्यों नहीं बताया गया ?

विरुद्धाव्यभिचारी=अन्य हेतु के द्वारा साधित अर्थ के विरुद्ध अर्थ का अव्यभिचारी।

अथवा

अन्य हेतु के द्वारा सिद्ध धर्म के सिद्ध विरुद्ध धर्म को सिद्ध करने के कारण जो हेतु विरुद्ध है और अपने साध्य का अव्यभिचारी होने के कारण अव्यभिचारी है, वह विरुद्धाव्यभिचारी है।

आचार्य :दिङ्नाग: ने इस हेतु का वर्णन किया है, यहां क्यों नहीं किया गया ?

सूत्र १११

क्योंकि अनुमान के विषय में वह असम्भव है।

अनुमान का विषय=प्रमाण-सिद्ध त्रैरूप्य। जिससे अनुमान की उत्पत्ति होती है वह अनुमान का विषय है। और प्रमाण-सिद्ध त्रैरूप्य से अनुमान की उत्पत्ति होती है। इसलिए वही अनुमान का विषय है। उसके प्रकान्त होने पर विरुद्धाव्यभिचारी सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रमाण-सिद्ध त्रैरूप्य के प्रस्तुत होने पर वही हेत्वाभाव सम्भव होता है जिसका रूप प्रमाण सिद्ध हो। और विरुद्धाव्यभिचारी का प्रमाणसिद्ध रूप नहीं है। इसलिए वह सम्भव नहीं है।

क्यों असम्भव है ?

सूत्र ११२

उक्तः लक्षण, कार्य और स्वभाव में एवं अनुपलब्धि में विरुद्धता सम्भव नहीं है।

कार्य का स्वरूप है कारण से जन्म लेना, स्वभाव का है साध्य से व्याप्त होना। जो कार्य है अथवा स्वभाव है, वह अपने कारण अथवा व्यापक स्वभाव को छोड़ कर कैसे हो सकता है ताकि विरुद्ध बन जाय। दृश्यानुपलब्धि भी वस्तु के स्वभाव की अव्यभिचारिणी होने के कारण विरुद्ध नहीं हो सकती।

सूत्र ११३

और इसके अतिरिक्त कोई भी हेतु अव्यभिचारी नहीं होता।

सूत्र ११४

इसलिए :आचार्य ने: अवस्तु के दर्शन के सहारे प्रवृत्त, एवं आगम पर आश्रित अनुमान के विषय में विचार होने पर विरुद्धाव्यभिचारी नाम का हेतु दोष कहा है।

सूत्र ११५

क्योंकि शास्त्रकारों के द्वारा भ्रान्ति से अर्थों में विपरीत स्वभाव आरोपित हो सकते हैं।

शास्त्रकार भ्रान्ति के कारण वास्तविक अथवा अवास्तविक स्वभाव को आरोपित करते हैं। इसी से विरुद्धाव्यभिचारी हेतु उत्पन्न होता है।

यदि शास्त्रकार भी भ्रान्त हो सकते हैं तो फिर अन्य व्यक्तियों में क्या भरोसा होगा ?

सूत्र ११६

यथार्थ वस्तुस्थिति पर आधारित स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि रूप हेतुओं में इस प्रकार का दोष नहीं होता।

हेतुओं में हेतुत्व की व्यवस्था कल्पना से न होकर वस्तुस्थिति से होनी चाहिए। तब भ्रान्ति का अवकाश नहीं होगा जिससे विरुद्धाव्यभिचारी का अवकाश हो।

सूत्र ११७

उदाहरण—जो सब स्थानों में स्थित अपने संबंधियों के साथ समान काल में अभिसंबद्ध होता है वह सर्वगत है, जैसे आकाश। और सामान्य सर्वत्र अवस्थित अपने संबंधियों के साथ समान काल में अभिसंबद्ध होता है।

यहां सामान्य का सर्वत्र अवस्थित संबंधियों से संबंधित होना अनुवाद है और सर्वगतत्व विधि है। संबंधित होना सर्वगतत्व में नियत है और उससे व्याप्त है।

यहां कणाद महर्षि ने सामान्य को निष्क्रिय, दृश्य और एक कहा है। वह एक साथ अपने सब संबंधियों से समवाय के द्वारा संबद्ध है। कणाद के शिष्य पैलुक ने व्यक्तियों में और व्यक्तिरहित प्रदेशों में सामान्य की स्थिति को सिद्ध करने के लिए प्रमाण प्रस्तुत किया है: आकाश व्याप्ति को दिखलाने वाला दृष्टान्त है।

सूत्र ११८

उन संबंधियों के स्वभावमात्र का अनुगमन करने के कारण उनके स्थानों में सामान्य के स्वभाव की सन्निधि होती है।

जिसका स्वभाव जिनका संबंधी होता है वह नियम से उनके स्थान में सन्निहित होता है। इसलिए संबंधियों के स्थान में सामान्य की सन्निधि होती है।

सूत्र ११९

क्योंकि जो जहां नहीं होता वह उस प्रदेश को स्वयं व्याप्त नहीं करता। यह स्वभाव हेतु का प्रयोग है।

यहां सामान्य और सामान्ययुक्त अर्थों का समवाय लक्षण सम्बन्ध है और वह अभिन्न देश में स्थित वस्तुओं का ही हो सकता है। इसलिए जहां जो समवेत हैं वह उसे स्वकीय रूप से अंगीकार करता हुआ समवायी स्वभाव के स्थान में ही अपने आप को रखता है। जो यहां समवेत होता है वह उस द्रव्य को व्याप्त करता हुआ स्वयं उस देश में सन्निहित होता है।

आशय यह है—स्थान-विशेष में अवस्थित वस्तु को व्याप्त करना उस स्थान में व्यापक की विद्यमानता से व्याप्त है। उस स्थान में विद्यमान न होने पर व्याप्त न करने से व्याप्ति-लक्षण समवाय-संबंध न होगा। किन्तु व्याप्त करना होता है। इसलिए उस स्थान में व्यापक की सन्निधि होती है। यह स्वभाव-हेतु है।

पैठर के प्रयोग को दिखलाते हैं—

सूत्र १२०

दूसरा प्रयोग—जो उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त होने पर भी उपलब्ध नहीं होता,

वह वहां नहीं होता। जैसे स्थान-विशेष में अविद्यमान घट। और व्यक्तियों के अन्तरालों में उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त सामान्य उपलब्ध नहीं होता। यह अनुपलब्धि और :पिछला: स्वभाव-हेतु एकत्र परस्पर विरुद्ध अर्थ सिद्ध करने से संशय उत्पन्न करते हैं।

यहां दृश्यानुपलब्धि का अनुवाद है और असद्व्यवहार्यता का विधान है। दृश्यानुपलब्धि व्याप्य है और असद्व्यवहार्यता व्यापक है।

व्यक्त्यन्तराल=व्यक्ति-शून्य आकाश एवं व्यक्त्यन्तर। दृश्य होते हुए भी जो सामान्य अश्व-आदि व्यक्त्यन्तर में एवं व्यक्ति-शून्य आकाश में उपलब्ध नहीं होता। इससे पता चलता है कि वह उनमें नहीं है।

यह अनुपलब्धि और पूर्वोक्त स्वभाव परस्पर-विरुद्ध अर्थों की सिद्धि करने से एक ही धर्मी में संशय उत्पन्न करते हैं। क्योंकि एक ही अर्थ परस्पर-विरुद्ध स्वभाव का नहीं हो सकता। एक स्वभाव से व्यक्त्यन्तरों में एवं व्यक्ति-शून्य आकाश में अस्तित्व एवं दूसरे :स्वभाव से: अनुपलब्धि के द्वारा अनस्तित्व सिद्ध होता है। उसी वस्तु का एक समय में एक ही स्थान पर अस्तित्व एवं नास्तित्व विरोध के कारण अयुक्त है। इसलिए आगम-सिद्ध सामान्य के सर्वगतत्व एवं असर्वगतत्व दोनों साध्य होने पर ये दो हेतु विरुद्धाव्यभिचारी हो जाते हैं। क्योंकि एक ही सामान्य का सब स्थानों में स्थित द्रव्यों के साथ अभिसंबंध और दृश्यत्व, दोनों एक साथ स्वीकृत हुए हैं। इसलिए सबसे संबद्ध होने के कारण वह सर्वगत एवं दृश्य होते हुए अन्तराल में अनुपलब्धि से असर्वगत सिद्ध होता है। इसलिए शास्त्रकार ने ही विरुद्ध व्याप्तता को न देख कर विरुद्ध-व्याप्त धर्मों को कह कर विरुद्धाव्यभिचारी का अवकाश दिया है। वस्तु में यह नहीं हो सकता।

हेत्वाभास पूरे हो गए।

:शंका: साधन के अवयव होने के कारण जैसे हेतु और उनके प्रसंग में हेत्वाभास कहे गए हैं वैसे ही दृष्टान्त और दृष्टान्ताभास वक्तव्य हैं। वे क्यों नहीं कहे गए?

:उत्तर:

सूत्र १२१

हेतु त्रिरूप कहा गया है। उतने से अर्थ का निश्चय होता है, इसलिए दृष्टान्त नाम का कोई पृथक् साधन का अवयव नहीं है। इसलिए गतार्थ होने के कारण उसका कोई पृथक् लक्षण नहीं है।

यदि हेतु बिना दृष्टान्त के होगा तो हेतु की व्याप्ति का निश्चय कैसे होगा? यह नहीं कहा जा रहा है कि हेतु बिना दृष्टान्त के हैं, अपितु हेतु से पृथक् दृष्टान्त

नहीं है। दृष्टान्त हेतु के अन्तर्भूत ही है। इसलिए कहा है कि इसका लक्षण पृथक् वाच्य नहीं है। यह नहीं कहा गया है कि इसका लक्षण ही अवाच्य है।

यदि ऐसा है तो हेतु के उपयोगी का भी लक्षण कहना चाहिए, (उस शंका पर) कहते हैं : दृष्टान्त-लक्षण गतार्थ है। दृष्टान्त लक्षण वैसा ही होता है जैसी दृष्टान्त की प्रतित होती है। दृष्टान्त का हेतु लक्षण से ही निश्चित होता है। इसलिए दृष्टान्त-लक्षण का जो प्रयोजन है वह ज्ञात ही है।

कैसे ?

सूत्र १२२

सपक्ष में ही अस्तित्व और सब असपक्ष से व्यावृत्ति, इन दोनों को अभेद से हेतु का रूप कहा गया है। फिर विशेषतः पूर्वोक्त कार्य और स्वभाव को उत्पत्ति और स्वमात्र से अनुबद्ध बताया गया है। उसे प्रदर्शित करने में इस तरह प्रदर्शित करना चाहिए—जहां धूम है वहां अग्नि है, अग्नि के कहीं न होने पर धूम नहीं होता, जैसे यथाक्रम रसोई और अन्यत्र। अथवा जहां कृतकत्व होता है वहां अनित्यता होती है, अनित्यत्व के अभाव में कृतकत्व असंभव है जैसे यथाक्रम घट और आकाश में। क्योंकि अन्यथा यथोक्त सपक्ष और विपक्ष में अस्तित्व और नास्तित्व दिखाये जा सकते। कार्य-हेतु के लिए उसका कार्य होना नियत है, स्वभाव-हेतु के लिए स्वभाव से व्याप्त होना। इस बात के दर्शित होने पर दृष्टान्त दर्शित हो जाता है, क्योंकि उसका इतना ही स्वरूप है।

अभेद से अथवा सामान्यतः कहे हुए रूप का अर्थ है कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि का साधारण लक्षण। वह क्या है ? सपक्ष में ही अस्तित्व और सब विपक्ष से व्यावृत्ति। इन दो रूपों को अभेद-पूर्वक कहा गया है।

साधारण लक्षण बिना विशेष के बताए समझ में नहीं आ सकता, इसलिए उनके दो विशिष्ट रूप बताए गए हैं। कार्य का जन्म ज्ञातव्य बताया गया है क्योंकि जन्म के विदित होने पर यह पता चल जाता है कि उसका सपक्ष में ही अस्तित्व है और सब विपक्ष में अभाव। स्वभाव के लिए तन्मात्रानुबन्ध (= उस मात्र का अनुसरण) दर्शनीय कहा गया है। तत्=हेतु। उसका अनुबन्ध अथवा अनुगमन अर्थात् हेतु मात्र के होने पर साध्य का होना। क्योंकि तन्मात्र-भावित्व ही साध्य का तादात्म्य है। जब हेतु का स्वभाव ज्ञात होता है तब स्वभाव-हेतु का सपक्ष में ही अस्तित्व और विपक्ष में अभाव होता है। जहां धूम है वहां अग्नि है—इसमें कार्य हेतु की व्याप्ति प्रदर्शित है। व्याप्ति कार्य-कारणभाव को सिद्ध करने वाले प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ रूपी प्रमाण से निश्चित होती है। महानस उसी का दृष्टान्त है। अग्नि के न होने पर धूम नहीं होता, यह व्यतिरेक-प्रदर्शित है। व्यतिरेक अन्यत्रवत् द्रष्टव्य

हैं। वह्नि के अभाव में धूम का अभाव नियत रूप से देखा जाता है जैसेकि रसोई से अन्यत्र।

जहां कृतकत्व है वहां अनित्यत्व है, यहां भी स्वभाव-हेतु की व्याप्ति दिखाई गई है। अनित्यत्व के अभाव में कृतकत्व नहीं होता है, यह व्यतिरेक है। व्याप्ति का साधक प्रमाण साधर्म्य के दृष्टान्त में द्रष्टव्य है। हेतु की व्याप्ति विदित होने पर साध्य के अभाव में उसका नियत अभाव द्रष्टव्य है। इन्हीं के उदाहरण हैं 'जैसे घट में' एवं 'आकाश में'।

कार्य-कारण-भाव और तादात्म्य महानस और घट में ज्ञातव्य है, इसलिए वे व्याप्ति का साधक प्रमाण प्रदर्शित करते हुए साधर्म्य दृष्टान्त दर्शनीय हैं। किन्तु वैधर्म्य-दृष्टान्त व्याप्ति के विदित होने पर व्यतिरेक के लिए होता है। इसलिए वह आवश्यक रूप से वस्तु नहीं होता। कारण के अभाव में कार्य का अभाव वस्तु में अथवा अवस्तु में होता है, इसलिए वैधर्म्य-दृष्टान्त में वस्तु अथवा अवस्तु इष्ट होते हैं।

इसलिए दृष्टान्त के बिना हेतु का अन्वय अथवा व्यतिरेक नहीं दिखलाया जा सकता। इसलिए हेतुरूप के कहने से ही हेतु की व्याप्ति को सिद्ध करने वाले प्रमाण का प्रदर्शक साधर्म्य-दृष्टान्त होता है। व्याप्ति के विदित होने पर साध्य के अभाव में हेतु के अभाव के प्रदर्शन के लिए वैधर्म्य दृष्टान्त उपादेय होता है।

इतना ही दृष्टान्त का रूप है कि व्याप्ति के साधक प्रमाण का प्रदर्शकत्व, जो कि साधर्म्य दृष्टान्त का है, और व्याप्ति प्रसिद्ध होने पर साध्य की निवृत्ति को प्रदर्शित करना, जोकि वैधर्म्य-दृष्टान्त का है। हेतुरूप के कहने से ही यह कह दिया गया होता है। दृष्टान्त का और लक्षण अनावश्यक है।

सूत्र १२३

इसी से दृष्टान्त के दोष भी निरस्त होते हैं।

हेतु-रूप के अभिधान से प्रदर्शित दृष्टान्त के द्वारा दृष्टान्ताभास स्पष्ट होते हैं। पूर्वोक्त की सिद्धि के लिए स्वीकार किया जाता भी जो दृष्टान्त अपने कार्य को सिद्ध करने में असमर्थ है वह दृष्टान्ताभास है।

दृष्टान्ताभासों के उदाहरण—

सूत्र १२४

जैसे, शब्द नित्य है,
क्योंकि वह अमूर्त है,
जैसे कर्म, परमाणु अथवा घट।

ये दृष्टान्ताभास हैं क्योंकि ये क्रमशः साध्य-रहित, हेतु-रहित, एवं उभय-रहित हैं।

कर्म साध्य-रहित है क्योंकि अनित्य है। परमाणु हेतु-रहित है क्योंकि मूर्त है। मूर्त=असर्वगत द्रव्य-परिमाण। परमाणु असर्वगत है और द्रव्यरूप है। वैशेषिक उसे नित्य मानते हैं, इसलिए साध्य-विकल नहीं है। घट उभयरहित है, क्योंकि अनित्य भी है और मूर्त भी है।

सूत्र १२५

वैसे ही जहां साध्य-धर्म आदि संदिग्ध हों—

यह पुरुष राग-आदि से युक्त है
क्योंकि यह बोलता है,
जैसे कोई भी सड़क चलता आदमी।
यह पुरुष मरणधर्मा है,
क्योंकि यह राग-आदि से युक्त है,
जैसे कोई भी सड़क चलता आदमी।
यह पुरुष असर्वज्ञ है
क्योंकि यह राग-आदि से युक्त है,
जैसे कोई भी सड़क चलता आदमी।

पहले दृष्टान्त में साध्य :=राग-आदि से युक्त होनाः संदिग्ध है। दूसरे में हेतुः=राग आदि से युक्तताः संदिग्ध है। तीसरे में दोनों संदिग्ध हैं।

सूत्र १२६

ऐसे ही वह दृष्टान्त भी दृष्टान्ताभास है जिसमें अन्वय नहीं है अथवा अन्वय प्रदर्शित नहीं है—

जो बोलता है वह राग आदि से युक्त है,
जैसे इष्ट व्यक्ति।
शब्द अनित्य है
क्योंकि वह कृतक है,
जैसे घट।

जिस दृष्टान्त में साध्य और हेतु का साहचर्यमात्र दीखता है, किन्तु हेतु साध्य से व्याप्त नहीं होता, वह अन्वय-रहित दृष्टान्त है। जिसमें होता हुआ भी अन्वय वक्ता के द्वारा प्रदर्शित नहीं किया गया है, वह अप्रदर्शितान्वय है।

पहले दृष्टान्त में इष्ट व्यक्ति में वादी और प्रतिवादी का भी संग्रह हो जाता

है। इससे वक्तृत्व और रागादिमत्व का साहचर्यमात्र सिद्ध होता है, व्याप्ति सिद्ध नहीं होती।

दूसरे दृष्टान्त में अन्वय प्रदर्शित नहीं किया गया है। यहां यद्यपि शब्द कृतकत्व में घट के समान है तथापि अनित्यत्व में समान नहीं समझा जा सकता, क्योंकि अन्यथा अतिप्रसंग होगा।

किन्तु जब कृतकत्व की अनित्यता विदित होती है तब कृतकत्व से अनित्यता का निश्चय हो सकता है, इसलिए जो कृतक है वह अनित्य है। इस प्रकार से कृतकत्व को नियत कह कर नियम को सिद्ध करने के लिए अन्वय-वाक्य के अर्थ के ज्ञान के लिए दृष्टान्त स्वीकार्य होता है। उसमें अन्वय प्रदर्शित करना चाहिए, किन्तु यहां ऐसा नहीं किया गया है। इस प्रकार का दृष्टान्त केवल साधर्म्य में ही उपयोगी है। किन्तु केवल साधर्म्य से साध्य सिद्ध नहीं होता। इसलिए जिस अन्वय के लिए दृष्टान्त होता है वही यहां नहीं लिया गया है। साधर्म्य-रूप अर्थ जो लिया गया है वह अनुपयोगी है। इसलिए वक्ता के दोष से यह दृष्टान्त सदोष है। वक्ता को चाहिए था कि दूसरे को समझाए। इसलिए यद्यपि दृष्टान्त स्वतः सदोष नहीं है तथापि वक्ता ने उसे दोषपूर्ण प्रदर्शित किया है।

सूत्र १२७

ऐसे ही विपरीत अन्वय—जो अनित्य है वह कृतक है।

दृष्टान्त में कृतकत्व को अनित्यत्व में नियत प्रदर्शित करना चाहिए ताकि कृतकत्व से अनित्यत्व का निश्चय हो। किन्तु यहां अनित्यत्व को कृतकत्व में नियत प्रदर्शित किया गया है और कृतकत्व को अनित्यत्व में अनियत छोड़ दिया गया है। इसलिए जैसे कृतकत्व को अनित्यत्व में अनियत प्रदर्शित किया गया है, उससे अनित्यत्व की प्रतीति नहीं हो सकती।

सूत्र १२८

:ये ६: साधर्म्य से दृष्टान्ताभास कहे गए।

सूत्र १२९

वैधर्म्य से भी—

जैसे साध्य-आदि के अव्यतिरेकी परमाणु, कर्म और आकाश :दृष्टान्ताभास हैं:।

शब्द का नित्यत्व सिद्ध करने में अमूर्तत्व हेतु दिया जाने पर परमाणु वैधर्म्य-दृष्टान्त होने पर साध्य का अव्यतिरेकी है क्योंकि परमाणु नित्य हैं। कर्म हेतु

का अव्यतिरेकी है क्योंकि कर्म अमूर्त है। आकाश दोनों का अव्यतिरेकी है क्योंकि नित्य भी है, अमूर्त भी। अव्यतिरेक का अर्थ है निवृत्त्यभाव।

सूत्र १३०

वैसे ही वे दृष्टान्त भी जिनमें साध्य आदि का व्यतिरेक संदिग्ध हो, जैसे-कपिल आदि असर्वज्ञ अथवा अनाप्त हैं, क्योंकि सर्वज्ञता और आप्तता का लिंगभूत प्रमाणातिशय उनके शासन में (=शास्त्र, उपदेश) अविद्यमान है।

यहां वैधर्म्य का उदाहरण—जो सर्वज्ञ अथवा आप्त है उसने ज्योतिष आदि का उपदेश किया है, जैसे ऋषभ, वर्धमान आदि ने। यहां साध्य धर्म सर्वज्ञता और अनाप्तता का व्यतिरेक संदिग्ध है।

इस वैधर्म्योदाहरण में ऋषभ आदि की असर्वज्ञता एवं अनाप्तता से व्यावृत्ति संदिग्ध है। क्योंकि इसमें कोई विरोध नहीं है कि वे ज्योतिष का उपदेश भी दें और साथ ही असर्वज्ञ एवं अनाप्त भी हों। ज्योतिर्ज्ञान नैमित्तिक होने के कारण व्यभिचारी है और सर्वज्ञता का अनुमान नहीं कराता।

सूत्र १३१

जहां हेतु का व्यतिरेक संदिग्ध हो, जैसे—

वेद जानने वाले ब्राह्मण को विवक्षित पुरुष के :कपिल आदि के: वचन नहीं मानने चाहिएं, क्योंकि वे राग आदि से युक्त हैं। इसमें वैधर्म्योदाहरण—जिनके वचन ग्राह्य हैं वे राग आदि से युक्त नहीं हैं, जैसे गौतम आदि धर्मशास्त्र के प्रणेता।

यहां गौतम आदि में हेतु-धर्म रागादिमत्ता का अभाव संदिग्ध है।

सूत्र १३२

जहां दोनों का व्यतिरेक संदिग्ध हो—

कपिल आदि वीतराग नहीं हैं।

क्योंकि उनमें परिग्रह और आग्रह पाये जाते हैं।

यहां वैधर्म्यपूर्वक उदाहरण है—जो वीतराग है उसमें परिग्रह का ग्रहण नहीं है। जैसेकि ऋषभ आदि में।

ऋषभ आदि के अवीतरागत्व और परिग्रहयुक्तता का, जोकि साध्य-धर्म और साधनधर्म हैं, उनमें व्यतिरेक संदिग्ध है।

धर्मोत्तर—परिग्रह का अर्थ है लभ्यमान का स्वीकार। आग्रह का अर्थ है स्वीकार के बाद जो लालच और डाह होते हैं। कपिल आदि लभ्यमान को स्वीकार करते हैं, स्वीकृत को छोड़ते नहीं हैं, इसलिये वे राग आदि से युक्त सूचित होते हैं।

इसके प्रमाण में वैधर्म्य उदाहरण है जिसमें साध्य के अभाव में साधन का अभाव प्रदर्शनीय है। इस ऋषभ आदि के दृष्टान्त में अवीतरागता और परिग्रहाग्रहयुक्तता, जोकि साध्य और साधन हैं, उनकी निवृत्ति संदिग्ध है क्योंकि ऋषभ आदि की वीतरागता भी संदिग्ध है और अपरिग्रह भी संदिग्ध है। यद्यपि जैनों के सिद्धान्त में वे वीतराग और निष्परिग्रह कहे गये हैं तथापि संदेह रहता ही है।

सूत्र १३३

अव्यतिरेक, जैसे—यह अवीतराग है क्योंकि वक्ता है। यहां वैधर्म्य उदाहरण है। जिसमें अवीतरागता नहीं है वह वक्ता नहीं है जैसेकि पत्थर के टुकड़े में। यहां यद्यपि पत्थर के टुकड़े से दोनों ही व्यावृत्त हैं तथापि 'सब वीतराग वक्ता नहीं हैं' इस व्याप्ति से व्यतिरेक के असिद्ध होने के कारण व्यतिरेक नहीं है।

जिसमें व्यतिरेक नहीं है उसे अव्यतिरेक कहा गया है। 'अवीतराग' अर्थात् रागादिमत्व साध्य है। वक्तृत्व हेतु है। व्यतिरेक कहते हैं—'जहां अवीतरागता नहीं है' यह साध्य के अभाव का अनुवाद है। 'वहां वक्तृत्व भी नहीं है' यह हेतु के अभाव की विधि है। इससे साध्य के अभाव को हेतु के अभाव से व्याप्त कहा गया है, दृष्टान्त है पत्थर का टुकड़ा।

इसमें अव्यतिरेक कैसे है जबकि पत्थर के टुकड़े में दोनों का अभाव है।

इससे क्या होता है, यद्यपि पत्थर के टुकड़े में सरागता और वक्तृत्व दोनों का अभाव है तथापि व्याप्ति के द्वारा व्यतिरेक सिद्ध नहीं हुआ।

कैसी व्याप्ति से—'सब वीतराग वक्ता नहीं हैं'। इसमें 'सब वीतराग' साध्य के अभाव का अनुवाद करता है। 'वक्ता नहीं हैं' यह हेतु के अभाव की विधि प्रस्तुत करता है। इससे साध्य का अभाव हेतु के अभाव में नियत बतलाया जाता है। इस व्याप्ति से व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता किन्तु इसी के लिये दृष्टान्त दिया है। इसलिए दृष्टान्त अपना काम न करने के कारण सदोष है।

सूत्र १३४

व्यतिरेक जहां नहीं दिखाया गया है, जैसे—'शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक है जैसे आकाश,' यह वैधर्म्योदाहरण है।

परार्थानुमान में दूसरे से अर्थ जानना होता है, वह स्वतः ठीक होते हुए भी यदि दूसरे के द्वारा अशुद्ध कहा जाय तो जैसा बताया गया है वैसा ठीक नहीं होगा। जैसा वह युक्त है वैसा बताया नहीं गया किन्तु हेतु कहा गया। इसलिये वक्ता के अपराध से भी परार्थानुमान में हेतु अथवा दृष्टान्त सदोष हो सकता है। साध्य का ज्ञान सादृश्य और असादृश्य से नहीं होता किन्तु साध्य में नियत हेतु से होता है।

इसलिये हेतु साध्य में नियत है यह बात अन्वय वाक्य से अथवा व्यतिरेक वाक्य से कहनी चाहिये। अन्यथा अर्थ का ज्ञापक नहीं कहा जायगा। वैसा कहा जाने पर उसे दृष्टान्त से सिद्ध दिखलाना चाहिये। इसलिये दृष्टान्त अन्वय और व्यतिरेक के वाक्यों के अर्थ को प्रदर्शित करता है। किन्तु यहां व्यतिरेक वाक्य प्रयुक्त नहीं है इसलिये यहां पर साधक को वैधर्म्य के दृष्टान्त में असादृश्य से सामने रखा गया है। इस तरह से वह साधक नहीं होता। व्यतिरेक का विषय होने से वह साधक होगा। वैसे यह प्रस्तुत नहीं किया गया है इसलिये व्यतिरेक के प्रदर्शित न होने के कारण वक्ता के अपराध से वह दोषयुक्त है।

सूत्र १३५

जहां व्यतिरेक विपरीत हो, जैसे—जो अकृत्रिम है वह नित्य होता है। यहां अन्वय और व्यतिरेक से हेतु के साध्य-नियत प्रदर्शित करना चाहिए। जहां हेतु साध्य-नियत प्रदर्शित करना है वहां व्यतिरेक-वाक्य में साध्य का अभाव साधन के अभाव में नियत प्रदर्शित करना चाहिए, क्योंकि इसी से हेतु साध्य में नियत दर्शित हो सकता है। किन्तु यदि साध्य का अभाव हेतु के अभाव में नियत नहीं कहा जाता तो हेतु के रहने पर भी साध्य के अभाव की सम्भावना होती है। इस तरह से हेतु साध्य में नियत नहीं निश्चित होता। इसलिये साध्य का अभाव हेतु के अभाव में नियत कहा जाना चाहिए। विपरीत व्यतिरेक में हेतु का अभाव साध्य के अभाव में नियत कहा जाता है नकि साध्य का अभाव हेतु के अभाव में।

इसलिये यह अर्थ हुआ—जो अकृत्रिम है वह नित्य ही है। इस तरह से साध्य के अभाव—नित्यत्व में कृतकता को नियत कहा गया है न कि नित्यता को हेतु के अभाव में। इसलिये व्यतिरेक-वाक्य साध्य-नियत हेतु को नहीं कहता। और इसलिये वक्ता के अपराध से विपरीत व्यतिरेक भी सदोष है।

सूत्र १३६

इन दृष्टान्ताभासों से हेतु का सामान्य लक्षण-सपक्ष में ही अस्तित्व और विपक्ष में सर्वत्र अनस्तित्व अथवा विशेष लक्षण निश्चयपूर्वक नहीं दिखलाया जा सकता। इसलिये इनका अर्थापत्ति से निराकरण समझना चाहिए।

साध्य में नियत हेतु के प्रदर्शन के लिये ही दृष्टान्त कहना चाहिये। इन दृष्टान्ताभासों से हेतु का सामान्य अथवा विशेष लक्षण नहीं निश्चित किया जा सकता। इसलिये अर्थापत्ति अथवा सामर्थ्य से इन दृष्टान्ताभासों का निराकरण समझना चाहिये। साध्य में नियत हेतु के निश्चय के लिये दृष्टान्त स्वीकार किए जाते हैं। अपने कार्य में असमर्थ होने के कारण वे सदोष हैं।

सूत्र १३७

दूषण न्यूनता आदि का कथन है।

सूत्र १३८

पहले जो न्यूनता आदि हेतु के दोष कहे गये हैं उनको प्रकट करना दूषण है क्योंकि उससे प्रतिवादी के अभीप्सित अर्थ की सिद्धि में रुकावट होती है।

न्यूनता आदि, अर्थात् हेतु की असिद्धता, विरुद्धता एवं अनैकान्तिकता। यद्यपि इनसे विपरीत अर्थ सिद्ध नहीं होता है तथापि दूसरे के साध्य में प्रतिबन्ध उत्पन्न होता है।

सूत्र १३९

दूषणाभास को जाति कहते हैं।

'जाति' शब्द सादृश्यवाचक है। जाति कहे जाने वाले उत्तर उत्तर के सदृश होते हैं।

सूत्र १४०

जाति रूप उत्तर असत्य दोषों को प्रकट करते हैं।

A/

गोविन्दचन्द्र पांडे

जन्म 1923, प्रयाग; प्रयाग-विश्वविद्यालय से डी० फिल० एवं वहीं अध्यापन 1947 से 1957 तक, 1957 से 1962 तक गोरखपुर विश्वविद्यालय में, उसके अनन्तर राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर में अध्यापन, सम्प्रति वहीं टैगोर-प्रोफेसर एवं अधिष्ठाता-कला-संकाय ।

अन्य प्रकाशन—स्टडीज़ इन दि ऑरिजिन्स् ऑव बुद्धिज्म (इलाहाबाद, 1957), बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास (लखनऊ, 1963), अपोह-सिद्धि (दर्शन-प्रतिष्ठान, 1971), अग्नि-बीज (भारतीय ज्ञानपीठ), क्षण और लक्षण (राधाकृष्ण प्रकाशन), मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑव कल्चर (यन्त्रस्थ), नाना पत्रिकाओं में लेख ।